अनुक्रमणिका

मुद्रक : त्रिलोकीनाथ मीतल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

जैन सन्तो मे श्रीमद् देवचद्र जी महाराज का मूर्धन्य स्थान है। वे एक सर्वमान्य आत्मार्थी सत्पुरुष, अतिशय ज्ञानी, आगम प्रज्ञ और आत्म द्रष्टा महात्मा थे। अकबर प्रतिबोधक चतुर्थ दादा साहब श्री जिनचद्र सूरि जी की सुविहित विद्वद् परम्परा मे आप निर्मल चारित्रवान् और समदर्शी सद्गुणी थे। सभी गच्छो के प्रति आत्मीयता और समभाव होने से आपने उत्तम विषय, पद्म विजय आदि अनेको को विद्या दान दिया। आपके सद्गुणो और विद्वत्ता-पूर्ण कृतियो से प्रभावित होकर योगनिष्ठ आचार्य बुद्धिसागर सूरि जैसे विद्वान आपके गुणानुरागी भक्त हो गए और आपकी समस्त कृतियो को प्रकाश मे लाने का प्रशसनीय कार्य किया। अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल द्वारा श्रीमद् देवचद्र भाग १—२ एव देव विलास आदि प्रकाशित करने से मुमुक्षुजनो का बडा उपकार हुआ और उन ग्रथो के अप्राप्य हो जाने से परम पूज्य योगीन्द्र युग प्रधान श्री सहजानदघन जी महाराज ने आपश्री के ग्रथो का नवीन सस्करण प्रकाशित करने के साथ साथ बाद मे मिले हुए ग्रथो को प्रकाश मे लाने की सत्प्रेरणा दी। पूज्यश्री ने कतिपय अप्रकाशित कृतियो का सम्पादन किया और अब सभी ग्रथो के नवीन संस्करण तैयार करने की प्रेरणा व उसमे सक्रिय योगदान—सशोधन आदि करने की भी स्वीकृति दी। हमने त्वरित गति से सारा कार्य सम्पन्न किया, पर पूज्य श्री के हाथ से यह महत् कार्य होना विधि को स्वीकार न था।

हमने श्रीमद् देवचन्द्र जी महाप्रियाण की द्विशताब्दी पर श्रीमद् देवचद्र ग्रन्थमाला द्वारा चौवीसी वीसी प्रकाशित करने के पश्चात् अष्ट प्रवचन माला एव पचभावना सज्झायादि की साथ दो पुस्तकें निकाली थी और शान्त सुधारस का हिन्दी अनुवाद भी कितना ही छपा दिया था पर वह दफ्तरी के

यहाँ से नष्ट हो गया। जैन भवन–कलकत्ता से सार्थ अध्यात्म गीता आदि प्रकाशित कराये।

'देव विलास' मे श्रीमद् जी की कृतियो मे देशनासार का नामोल्लेख आया है पर वह अप्राप्त था, खोज करने पर घाणेराव के हिस्तत्क ज्ञान भण्डार मे श्रीमद् देवचन्द्र जी कृत अध्यात्म प्रबोध (देशनासार) की एक मात्र अधूरी प्रति प्राप्त हुई जिसकी प्रेस कापी तैयार की गई। यह ग्रंथ गहन आध्यात्मिक होने से इसका सर्व साधारण के लिए हिन्दी अनुवाद कराना आवश्यक अनुभव कर परम विदुषी आर्यारत्न श्री सज्जनश्री जी महाराज को इस कार्य के लिए उपयुक्त ज्ञात कर महाराज श्री को निवेदन किया गया। आपने इसका अनुवाद कार्य शीघ्रता से सम्पन्न कर डाला।

स्व० परम पूज्य गणिवर्य श्री बुद्धिमुनि जी महाराज के विद्वान और क्रियापात्र शिष्य श्री जयानद मुनि जी ने कच्छ, भुज, माडवी और जामनगर तथा बम्बई के श्री महावीर स्वामी व चिन्तामणि जी मदिर के ज्ञान द्रव्य से इसके प्रकाशन हेतु अर्थ व्यय की व्यवस्था करदी, जिससे यह ग्रन्थ प्रकाशित कर जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। इसी ज्ञान द्रव्य से और भी कुछ ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होगे। इसकी एक मात्र अधूरी प्रति ही मिली, जिससे, यह अनुवाद हुआ है यदि किसी ज्ञान भडारादि मे पूर्ण प्रति उपलब्ध हो तो हमे शीघ्र ही सूचित करने की कृपा करें ताकि ग्रन्थ पूर्ण रूप मे प्रकाश में आ सके।

इस ग्रन्थ के अन्त में आत्मा की कुछ शक्तियो की चर्चा है पर प्राप्त प्रति मे अधूरी रह जाती है, इसलिए श्रीमद् देवचन्द्र जी के ही रचित नयचक्रसार और अमृतचन्द्र सूरि की समयसार टीका के स्याद्वादाधिकार में उल्लिखित ४७ शक्तियो के नाम परिशिष्ट में दिए जा रहे हैं।

यह ग्रन्थ मूल ग्रथ की गाथाओ पर लिखे सस्कृत गद्य विवेचन के अनुवाद रूप मे है। मूल सस्कृत विवेचन अभी तक अप्रकाशित है। हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए हम परम पूज्य सज्जनश्री जी महाराज के आभारी हैं।

अगरचद भंवरलाल नाहटा

दो शब्द

अनादि-कालीन ससार षड् द्रव्यो का समूह है। इसी को लोक नाम से अभिहित किया जाता है। धर्मास्तिकाय आदि षड् द्रव्य हैं। —चतुर्दश रज्जु-प्रमाण लोक मे छ ही द्रव्य भरे पडे हैं। लोकाकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नही जिनमे इन द्रव्यो का अस्तित्त्व न हो। धर्म-अधर्म आकाश, काल और पुद्गल अजीव-जड हैं। मात्र जीव- चेतन द्रव्य है। जीव दो प्रकार के होते है – सिद्ध व ससारी। जो कर्म पुद्गल से सर्वथा मुक्त हो गये हैं, वे सिद्ध हैं। कर्मों से आवद्ध जीव ससारी कहलाते हैं। ससार भ्रमण-करते-करते, कर्मों को भोगते-भोगते जब कर्मभार अत्यन्त हल्का हो जाता है तब जीव को मानव शरीर आर्यक्षेत्र आदि दश-दुर्लभ दशाएँ प्राप्त होती हैं। ससारी जीवो की व स्वय की भी शारीरिक मानसिक बौद्धिक आदि विभिन्नताएँ, विविधताएँ और विचित्रताएँ जिज्ञासा की जननी है। विचार-शील मानव जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होने पर बाल्यावस्था मे माता-पिता द्वारा, किशोरावस्था मे शिक्षको से, तारुण्य मे समान वयस्को से स्वल्प समाधान पाता है। पूर्ण समाधान तो सर्वज्ञ तीर्थंकर देवो से ही प्राप्त होता है किन्तु सर्वज्ञो का सद्भाव सदा नही रहता। भरत ऐरवती क्षेत्र मे तो एक कोडा कोडी सागरोपम से भी कम समय सर्वज्ञ विद्यमान रहते है। तदनन्तर बहुश्रुत आचार्यादि ही तीर्थंकर देवो के उपदेशों को प्रचारित कर भव्यजनो का उपकार करते है। उनकी जिज्ञासाओ का समाधान भी करते हैं और मार्गदर्शन करके साधना की प्रेरणा करते हुये मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ कर देते हैं, तथा साधक दशा मे अमायभूत-कषाय, प्रमाद आदि से प्रभावित न हो, इस आशय से साधक को सदैव सारणा, वारणा, प्रेरणा प्रतिप्रेरणा इत्यादि देते रहते हैं। स्वय भी उसी पथ के पथिक होने से और शासन सचालक व सरक्षक होने के कारण श्रुतसाधना—भगवद्वाणी को तत्कालीन भाषाओ मे युगानुकूल

* ॐ नमस्सिद्धम् *

गणिवर्य श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज

विरचित

अध्यात्म-प्रबोध

अपरनाम

देशनासार

(स्वोपज्ञ वृत्तियुतः)

प्रणम्यश्रीमहावीरं सिद्धार्थकुलभास्करम् ।
दुर्वादिद्विपविध्वंसकरणे पञ्चाननोपमम् ।१।
अनेकान्तानन्तगुण निर्बाध पारिणामिकम् ।
वस्तुतत्वमनादीन स्वात्मधर्मं मह श्रये ।२।
श्रीदीपचन्द्र पाठक चरणाम्बुजसेवनाच्च यल्लब्धम् ।
गणधर रचित सूत्र तदनुसारेण वक्ष्यामि ।३।
स्वात्मोपकृतिहेतो यथार्थ सद्धर्मदेशनामूलम् ।
ससारार्णवतार करोम्यह **देशनासारम्** ।४।

अर्थ—सिद्धार्थनृपति के कुल को प्रकाशित करने वाले सूर्य और विभिन्न मतों का अभिनवेश रखने से कुयुक्तियो व कुतर्कों से वाद करने वाले, दुर्वादिरूप गजो को विध्वश करने के लिए सिंह-तुल्य चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर प्रभु को नमस्कार करके अनेकान्तस्वरूप अनन्तगुणमय

बाधारहित पारिणामिक-आत्मा मे ही परिणत रहने वाला आत्मा का अनादि-कालीन वास्तविक तत्वरूप अपने आत्म धर्म का मैं आश्रय लेता हूं।

मेरे गुरुवर्य पाठकप्रवर श्रीमद् दीपचन्द्र महोदय के चरणकमलों की सेवा से जो गणधर रचित सूत्रो का सार मुझे सम्प्राप्त हुआ है, उसी को सूत्रों का अनुसरण करता हुआ कहूँगा। नकि स्वमतिकल्पित! (इस वाक्य से श्रीमद् की शास्त्रों के प्रति दृढ व अनन्य श्रद्धा अभिव्यक्त होती है।)

यथार्थ सद्धर्मदेशना जिसके मूल में है और जो ससार समुद्र से तारने वाला है, ऐसा 'देशनासार' नामक ग्रन्थ मैं अपने स्वय के उपकार के लिए बनाता हूँ।

ग्रन्थारम्भ प्रस्तावना

इस जगत मे अनादिकाल से भ्रमण करते हुए प्राणी को स्वात्मनिष्ठ चित्स्वभाव परिणमनरूप आत्मा की स्वपरिणति का प्रागभाव[1] रूप कि जिसके प्राप्त होने पर द्रव्यसाधन—बाह्यसाधन मनुष्यभवादि व्रत नियम स्वाध्याय तीर्थ यात्रा जप,तप आदि भावसाधन सम्यग्दर्शनादि की शुद्धि होती है, क्योंकि जब तक वह प्राप्त नही होता सारे ही साधन केवल भव भ्रमण के हेतु ही रहते हैं। जैसाकि आचाराङ्ग सूत्र वृत्ति मे कहा है:—

'फलमेव गुण: फलगुण., फल च क्रियाया: भवति, तस्याश्च क्रियाया सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र रहिताया ऐहिकामुष्मिकार्थं प्रवृत्ताया अनात्यन्तिकाया वैकान्तिको भवेत्, फलगुणोऽप्य गुणो भवति, सम्यग्-दर्शनज्ञान चारित्र सहिताया क्रियाया स्त्वैकान्तिका त्यन्तिकानावाधसु-खाख्य सिद्धिफल गुणोऽवाप्यते। एतदुक्त भवति-सम्यग् दर्शनादिकैव

क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सांसारिक सुखफलाध्यारोपात् निष्फला, इत्यर्थं ”

अर्थात् फल ही गुण है जिसका उसे फलगुण कहते हैं। फल क्रिया का होता है, जो क्रिया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग् चारित्रयुक्त नही है और केवल ऐहिलौकिक या पारलौकिक सुख प्राप्ति के लिए की जाती है, उसका फल अत्यन्त व एकान्त सुखदाता न होनें से वह गुण भी अगुणरूप है। जो क्रिया सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र पूर्वक होती है, उसका फल अत्यन्त और एकान्त अनाबाध सुख स्वरूप सिद्धि होता है। अतः वही सम्यक् क्रिया वास्तविक फल - गुणवाली है। साराश कि सम्यग्दर्शनादि सहित क्रिया ही वास्तव मे फलरूप गुणवती - सफल है और इनसे सम्यग्दर्शनादि से रहित तप सयमादि क्रिया सासारिक, भौतिक सुखो का अध्यारोप होने से निष्फल है। ऐसा आगम शास्त्र वाक्य है। अत अनाबाध सुख की प्राप्ति के लिए आत्मा का वास्तविक स्वभाव रूप ही धर्म है। उसे प्रकट करने का ही प्रयत्न करना चाहिये और वही प्राग् भाव रूप क्रिया है वह प्रागभाव स्वरूप के निश्चय, भासन और रमण से ही होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् श्रद्धा के द्वारा निश्चय होता है। सम्यग् ज्ञान से आत्म स्वरूप भासता है, और सम्यग् चारित्र ही आतमरमणता है। इन्ही तीन को रत्नत्रय कहते हैं। इन्ही के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। स्वरूप का अभ्यास करने वालो को सम्पूर्ण स्वरूप का अनुभव करने वाले अर्हत् और सिद्ध तथा स्वरूप की सिद्धि ही जिनका साध्य है उस साध्य की प्राप्ति के साधन मे उद्यत रहने वाले निर्ग्रन्थ साधुजन ही वन्दनीय हैं। अत ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ मे मङ्गलाचरण रूप सर्व प्रथम इन्ही की वन्दना करते हैं .—

अरिहंते वंदित्ता सिद्धे पुण्णे तहेव आयरिये।
उवज्झाए निग्गंथे रयणत्तयधारए वंदे ।१।

भावार्थ—शुद्ध आत्मा के स्वरूपमय धर्म के रसिक होने से जो आत्मा धर्मध्यान, शुक्लध्यान व महान् सम्यक् तपोवल के द्वारा घाती-आत्म गुणों का घात करने वाले ज्ञानावरणीयकर्म, दर्शनावरणीय कर्म, मोहनीयकर्म और अन्तरायकर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्म सत्तागत केवल ज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चरित्र, अनन्त दानलब्धि व लाभलब्धि एव स्वभोग्य अनाबाध सुखादि का भोग तथा उपभोग अनन्त वीर्यादि स्वशक्ति विलास सुखो को प्राप्त हो गये है, वे अर्हत् कहलाते हैं। उन अर्हन्तो को तथा शैलेशीकरण के द्वारा अघाति कर्म-वेद-नीयकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म तथा आयुष्यकर्म भी जिनके सर्वथा नष्ट (क्षय) हो गये हैं, जो सहज आत्यन्तिक और एकान्त, निष्प्रवास अनायास, अकृत्रिम, निरुपचरित, अनन्त, सम्पूर्ण आत्म स्वभाव के प्रकट होने रूप अखण्ड आनन्दमय हैं। ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके (इन दोनों अर्हत् सिद्ध के ग्रहण से देवतत्व की उपलब्धि की भावना अभिव्यक्त की है) तथा यथार्थ, शुद्ध, अनेकान्त स्याद्‌वाद दृष्टि से पदार्थों का स्वरूप प्रकट करने में कुशल, श्रुतज्ञान का जिन मे प्राग्भाव (स्पष्टता) है और स्व पर का उपकार करने वाले, पाँच आचार-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार मे स्वय प्रवृत्त रह कर अन्यों को प्रवृत्त करते हैं; ऐसे आचार्यों को एव स्वरूप के साधन में रुचि वाले, श्रेष्ठ श्रुत ज्ञान के अध्ययन अध्यापन के द्वारा उपकार करने वाले उपाध्याय भगवन्तो और सर्व परभाव को दूर करने के लिए उद्यत, ५ समिति, ३ गुप्ति की सम्यक् प्रकार से रक्षा (पालन) करने वाले, द्रव्य आश्रव व भाव आश्रव से विरत रत्नत्रय के आराधक, निर्ग्रन्थ मुनिराजों को नमस्कार करता हूँ। अव ग्रन्थ का विपय प्रस्तुत करते हैं :—

जीव सरूवो ससमओ परभावो सव्वहा य परसमओ।
जीव परभावरओ परसमयं ससमयं सभावत्था ।२।

अर्थ—वास्तव में जीव का स्वरूप ही स्वसमय-सिद्धान्त-स्वभाव है और परभाव सर्वथा परसमय है। यह जीव परभाव मे रहता हुआ परसमय तथा स्वभावस्थ स्व समय है।

भावार्थः—जो यह आत्मा है वह नित्य परिणामी स्व स्वभाव मे ही स्थित रहता हुआ होने से उत्पाद व्यय ध्रौव्य की मात्र अनुभूति रूप लक्षण वाली सत्ता से शोभायमान है। क्योकि तत्वार्थ सूत्रकार ने "उत्पाद्व्यय ध्रौव्य युक्त सत्" कह कर सत् का लक्षण अभिहित किया है और जीव अस्तिकाय है, अत सत् रूप है। उसी सत्ता से शोभित होता हुआ चैतन्य रूप होने से, नित्य उदित दर्शन, आदि अनन्त धर्मों से धिररूढ एक धर्मी है। अर्थात् चैतन्य धर्मी है, और जानने देखने आदि की अनन्त शक्तियाँ उसके धर्म अर्थात स्वभाव हैं क्योकि शास्त्र मे वस्तु के स्वभाव को ही "वत्थु सहावो धम्मो" कह कर धर्म कहा है। ज्ञान दर्शनादि नित्य उदित रहने से द्रव्य भाव, क्रम-अक्रम मे प्रवृत्त विचित्र भावो के स्वभाव वाला होने से गुण और पर्याय वाला है। गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रमभावी। इन्ही ज्ञानादि गुणो से और पर्यायो से स्व पर भाव को प्रकाशित करने मे समर्थ होने के कारण विश्वरूप (केवला समुद्घात के समय तथा ज्ञानारूप मे) और एक रूपमय होता है। प्रतिविशिष्ट अवगाहना (शरीर की ऊँचाई) गति, स्थिति वर्त्तना-निमित्तत्व, रूपित्व के अभाव से तथा असाधारण चिद्रूपतारूप स्वभाव के सद्भाव से, उपर्युक्त अवगाहना, गति, स्थिति आदि गुणवाले, आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल उन पाँच द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न, अनादि से अनन्त वार द्रव्यो से मिश्रण होने पर भी स्वरूप से प्रच्युत नही होता और टकोत्कीर्ण अक्षरवत् जिसमे चिद्भाव सदा विद्यमान रहता है, वह जीव नामक पदार्थ ही वास्तव मे स्वसमय अर्थात् स्वसिद्धान्त है।

साराश कि चेतन की चिद्रूपता निगोद दशा मे भी सर्वथा नष्ट

नही होती। वह कभी अजीव जड़ नही बनता, वहाँ भी अक्षर-ज्ञान का अनन्तवाँ भाग निरावृत्त रहता ही है। यहाँ जीव को ही जो स्व समय नाम दिया गया है, उसका आशय है सम्‌एकत्वेन अर्थात्‌ एक रूप से–युगपत्‌–एक साथ अयति जानता है, वह समय अर्थात ज्ञान है और जीव वस्तुतः ज्ञान स्वरूप है। अतः जीव का स्व समय कहना युक्तियुक्त और यथार्थ है।

एकत्व का निश्चय होने पर अपनें स्वरूप में समस्त गुणो की प्रवृत्ति स्व समय है। उसमें प्रवृत्त आत्मा वन्धक रूप नही होता है, अर्थात्‌ अवन्धक होता है, क्योंकि धर्मास्ति (अन्य), अधर्मास्ति आदि सभी द्रव्य अपने में ही मग्न रहते हैं। अपने अपने धर्म यानी स्वभाव चक्र में रहते हुए परस्पर एक दूसरे के साथ रहते हुए भी एक दूसरे का गुण ग्रहण नही करते और सदा स्वरूप मे ही स्थित रहते है पररूप मे कदापि परिणत नही होते स्वसमयस्थ रहते है। यहाँ समय का अर्थ काल या सिद्धान्त नही किन्तु सम्पत्ति अर्थात स्वगुणरूप धन है जैसे धर्मद्रव्य का गुण गति सहाय है, अधर्म द्रव्य का स्थिति-सहाय, आकाश का अवकाशदान, काल का परिवर्तन, पुद्‌गल का क्षणभङ्गुरता और जीव का चेतनाज्ञान है। ये छहो द्रव्य अपना २ गुण अपने पास ही रखते हैं, परस्पर किसी का लेते देते नहीं। तथापि अनादि मोहित परभाव-पुद्‌गल मे स्वभाव के अध्या रोप और मिथ्यात्व अज्ञान और असंयम मे एक रूप बनें हुए पर रूप में परगुण में मग्न आत्मा का स्वरूप तो सम्यग्‌ दर्शन सम्यग्‌-ज्ञान और सम्यग्‌ चारित्रमय है। पुद्‌गल जड़ शरीरादि पर द्रव्य की शुद्धि से कौन सी आत्मा की शुद्धि है। अतः आत्म-शुद्धि ही जिसमे मुख्य है, ऐसे स्वसिद्धान्त का पठनपाठन ही करना चाहिये क्योंकि कहा गया है :—

सुअ परिचयाणभूया सव्वहास्सवि कामभोग बधक ।

अर्थात श्रुत के साथ परिचय करके स्वानुभूति करना चाहिये। शेष सभी प्रकार की काम भोगादि की कथा, कर्मबन्ध कराने वाली है और सुलभ है, किन्तु जो गुण पर्याय की एकता रूप स्वपरिणति मे परिणयनरूप स्वरूप कथा है अर्थात् जिसमे आत्मा के स्वरूप का वर्णन हो वह कथा सुलभ नही है। बुद्धिमान् जन ऐसी कथा का ही जिसमें स्वरूप को निरावरण करने की बात हो, उद्यम करते हैं और इसीलिए निग्रन्थ श्रमण, श्रमणी, भ्रान्त हुए अनन्त ससारी जीव जिस इन्द्रिय सुख को इष्ट समझ कर भोगते हैं, उसका परित्याग करते हैं। गृहस्थो से दूर एकान्त निवास स्थान मे रहते हैं। गुरु चरणो की सेवा करते हैं अर्थात गुरु के समीप रहते हैं। निर्दोष आहार के लिए घर २ घूमते हैं। बाईस परिषह सहते हैं। भयकर उपसर्ग भी दृढ़ता से सहन करते हुए समाधिमग्न रहते हैं।

अत्यन्त विसवादिनी काम भोगानुबन्ध कथा अर्थात् वे कथाएं या वैसा साहित्य जिसमे वासनाओ को उत्तेजित करने वाले भाव भाषा आदि हैं और पूर्वापर विसवाद से भरे वाक्य है जिसका अनन्तबार आत्मा से परिचय हो चुका है ऐसे विकार जिसके पठनपाठन से उत्पन्न हो सकते हो, उस प्रकार का साहित्य न पढे। सदा उत्तम तत्व का चिन्तन करने वाले और अन्त करण मे सत्तत्व ज्ञान का जिनके प्रकाश है ऐसे महान् पुरुषो का ज्ञान भी क्रोध,मान,माया, लोभ,रूप कषायचक्र से एकीकरुण करता हुआ अज्ञान रूप में परिणत हो जाता है, क्योंकि वास्तविक रूप मे आत्म तत्व मे यद्यपि ज्ञान दर्शन चारित्रादि गुण सदा विद्यमान रहते हैं। तथापि अन्त करण मे प्रकाशमान ज्ञानादिकाक-षायचक्र-क्रोधमानमायालोभ, हास्यरति अरति भय शोक जुगुप्सा एव स्त्रीवेद नपु सकवेद आदि एव ज्ञानावरणादि के साथ एकीकरण होने से वह ज्ञानतत्व अत्यन्त तिरोभूत (चुप) हो रहा है। स्वात्म तत्व

स्वरूप को जानता नही है तथा महापुरुषों की उपासना न करने के कारण उस स्वरूप को पहले कभी न सुना है, न परिचित हुआ है, न कभी अनुभव किया है, कि मेरे आत्मा का स्वरूप अत्यन्त निर्मल है। यह तो जड़ चेतन के भेद-ज्ञान रूप विवेक के आलोक मे ही अनुभव किया जा सकता है। उस तत्व को जानने के लिए ही आत्मधर्म का अभ्यास करना चाहिये। अतएव आत्मस्वरूप ही यहाँ कहा जा रहा है।

इस जगत में समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाले स्यात् पद से मुद्रित-शब्द-ब्रह्म से उत्पन्न, सम्पूर्ण क्षोद क्षम ऐसी नीति रूप सुख है जिसका उससे उत्पन्न ऐसी युक्ति के अवलम्वन से उद्‌भूत, निर्मल विज्ञानघन मे निमग्न, अत्यन्त उत्कृष्ट, गुरु की कृपा से प्राप्त, शुद्ध आत्मानुशासन से उत्पन्न, सतत दिव्य सुन्दर आनन्द से युक्त, तीव्र सविन् (ज्ञान-अनुभव) स्वानुभव से उद्‌भूत, जो कोई भी मेरे आत्मा का स्वविभव है, उससे एकत्व और पर से विभक्त आत्मा को देखूं। ऐसे निश्चय से बंधा हुआ, तथा स्वानुभव के प्रत्यक्षज्ञान से सम्पूर्ण आनन्द ही आनन्द के समूह को भोगने के लिये, उक्त प्रकार की आत्मा को देखूं इस निश्चय से प्रतिवद्ध हूँ। इसलिये महर्षिगण नयो के चक्र मे नही पड़ते। इसी कारण आत्मानुभव में मग्न आचार्यों की भक्ति व सेवा करते हैं। इसीलिये मय प्रमाण, निक्षेप आदि की जानकारी करते हैं और इनसे युक्त जैन आगमशास्त्रो का श्रवण, :पठन, मननादि करते हैं। सनत्कुमारादि चक्रवर्त्ती जैसे भी अत्यन्त सुन्दर स्त्रियो के काम भोगो को छोड़कर तत्व साधन मे प्रवृत्त होते हैं। अव यह शुद्ध आत्मा कौन है ? कैसा है ? उसका स्वरूप वतलाते हैं :— जो स्वत सिद्धरूप से अनादि, अनन्त, नित्य उद्योतित, उज्ज्वलज्योतिर्मय,ज्ञायक भावरूप है।

ससारी अवस्था मे रहा हुआ, अनादिवन्धपर्याय निरूपण से

कर्म पुद्‌गलो के साथ क्षीर नीरवत् एकरूप बन जाने पर भी स्वभाव निरूपणसे अस्ति नास्ति इत्यादि अनेक स्व सत्तागत धर्मोंके नष्ट न होने के कारण तथा समस्तरूपो–अनेक शुभाशुभभावों का मिश्रण हो जाने पर भी उनमे परिशमन न होने से और सारे दूसरे द्रव्यो के भावो से भिन्न रूप उपास्यमान स्व आत्मा कहने योग्य इतर शुद्ध ज्ञेय भावो का ज्ञाता मात्र होने से शुद्ध हैं। उपयोग—ज्ञानदर्शनादि अनन्त पर्यायो मे परिणमन होते रहने पर भी स्वरूपदशा मे स्वरूप से अवस्थित रहने के कारण शुद्ध है। इस प्रकार व्यवहार नम से अनन्तगुण-पर्य्यायो मे विभाजित किया जाते हुये भी प्रवेश अविभागादि भेदो से अभिन्न ही है। उत्तम श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन स्वरूप रमणनादि अनेक प्रकार के आनन्दयुक्त होने से अनेक होने पर भी एक है। सदा आनन्दरूप होने पर भी सर्वप्रकार के आनन्द का समकाल अनुभव करने से परमानन्दस्वरूप है। अशुद्ध उपाधि अर्थात् कर्म पुद्‌गणो के मिल जाने के कारण जन्म, जरा मरण करने वाले, शरीरयुक्त, कर्मसहित, कषाय कलुषित या अकलुषित आत्मरूप-शिष्यजनो को विशेष बोध कराने के लिये अनेक पर्य्याय भेदो से, अनन्त धर्म भेदो से कहा जाता हुआ भी दर्शन ज्ञान उपयोग लक्षण स्वभाव वाला होने से परमार्थ से एक ही हैं।

शका – यदि आत्मा परमार्थत एक व अभेद स्वरूप है तो फिर एक ही कहिये।

समाधान—ऐसा नही है, व्यवहार से अनन्त पर्य्याय भेद से कहने पर ही अनन्त परिणाममय जाना जाता है। इसी कारण आचार्यों का भेद वर्णन प्रयास है। वस्तु धर्म की प्रवृत्ति निश्चय और व्यवहार दोनो से होती है।

भगवती सूत्र की टीका में कहा है —

"जइ जिणमय पवज्जह, तो मा विवहार निच्छए मुंयह।
इक्केण विणा नित्थ, छिज्जद् उ तत्त" इत्यादि॥

अर्थ :—यदि जैनमत का आश्रय लेते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को ही मत छोडो, क्योंकि एक के विना अर्थात् व्यवहार के विना तो तीर्थ—चतुर्विध संघ का ही विच्छेद हो जाता है और निश्चय के विना तत्व ही विलुप्त हो जायगा।"

इस प्रकार सम्यग् दर्शन उभयसापेक्ष श्रद्धायुक्त लक्षण वाला है। उत्तराध्ययन मे भी यही कहा है :—

"जीवाजीवो य बधोय पुण्णपानासओ तहा।
संवरो निज्जरामुक्खो सति ए तहिया नव ॥२॥
तहिया णं भावाणं सम्भावे उवएसण।
भावेण सछहतस्स सम्मत्तं त वियाहिय ॥३॥"

अर्थ —जीव, अजीव, वन्ध, पुण्य, पाप, तथा आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नव तत्व है। इन तत्वों के भावों का सद्भाव रूप से उपदेश देने और भाव से श्रद्धा करना ही सम्यक्त्व है, ऐसा जानो।

१. इनमे जो चैतन्य स्वरूप परिणामी कर्त्ता भोक्ता स्वदेह परिमाण है, वह जीव है। १
२. चैतन्य रहित अकर्त्ता अभोक्ता किन्तु परिणामी है, वह अजीव है।
३. जीव के शुभ योग, कषायादि से गृहीत एव वद्ध और आह्लाद जनन वियाक हेतु पुण्य है।
४. अशुभ योग कषायादि से गृहीत और वद्ध आत्मा के लिये कटुक विपाक का हेतु पाप है।
५. जिससे नये कर्म जाते हैं वह आस्रव है।
६ जिससे नवीन कर्म आते हैं उस परिणाम को रोकना संवर है।
७. आत्मप्रदेशो में स्थित सत्तागत कर्मों को आत्मप्रदेशो से पृथक् कर नष्ट करना निर्जरा है।

८ डिविया मे भरे कज्जल चूर्ण के समान कर्मवर्गणाएं समस्त लोक मे भरी पडी हैं। उनमे से कुछ पुद्गलो को ग्रहण कर आत्मप्रदेशो के साथ मिला कर लोलीभूत कर देना बन्ध है।

९ संवर और निर्जरा द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है।

ये नव तत्व या पदार्थ हैं। इनमे एक जीव है, शेष (१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्किाय (३) आकाशास्तिकाय (४) काल और (५) पुद्गलास्तिकाय, ये पाँच अजीव हैं।

आत्मप्रदेशो मे रहे हुये शुभाशुभ कर्म प्रकृति रूप पुण्यपाप है। आस्रव सवर, निर्जरा, वन्ध जीव के परिणाम हैं। सम्यगज्ञान सम्यगदर्शन, सम्यगचारित्र व सम्यग् तप के प्रकर्ष से आत्मा का कर्माचरण रहित हो जाना मोक्ष है। जीव और अजीव की स्थिति सर्वकालिक है। पुण्यपाप कर्म प्रकृतियो की स्थिति जितनी जीव बाँधता है उतनी होती है, जैसे कि सातावेदनीय कर्म की पनरह कोडा कोडी सागरोपम की और असातावेदनीय कर्म की तीन कोडा कोड़ी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। इस प्रकार प्रज्ञापना सूत्र से सभी कर्म प्रकृतियो की स्थिति जाननी चाहिये। आस्रव अध्यवसाय की जघन्य स्थिति एक समय की और उत्कृष्ट स्थिति आठ समय की होती है, ऐसे ही सवर अध्यवसाय की भी इतनी ही स्थिति है। निर्जरा व मोक्ष की एक सामयिकी स्थिति है। अव्यवहार तय से वन्ध की स्थिति भी एक समय की ही है, ऐसा जानना चाहिये। ये तत्थ्य भाव है,इन तथ्य भावो का सद्भावरूप से "श्रद्धान—यथार्थ उपलब्धि से यथार्थ निर्द्धारण ही सम्यग्दर्शन है" ऐसा जानना चाहिये।

उस सम्यक् श्रद्धा को दिखलाने वाली गाथा 'प्रज्ञापना' के पद मे इस प्रकार है —

परमत्थसथवो वा सुदिकपरमत्थ सेवणा वा वि ।
' वावन्त कुदेसतथवज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा ।।"

टीका :—परमश्च तात्विकाश्च ते अर्थाश्च जीवादय स्ते परमार्थी तेषु सस्तव· परिचय स्तात्पर्येण बहुमान पुरस्सर ज़ीवादि पदार्थविगमायाभ्यास , वा समुच्चये । सुष्ठु सत्य यतो दृष्टा परमार्था जीवादयो यै स्ते सुदृष्ट परमार्था वहुश्रुता स्तेषा सेवन पर्युपास्ति वैयावृत्यादिना, वावन्नकुदसणा त्ति' व्यापन्न विनष्ट दर्शन येषा ते कुदर्शना शाक्यादय स्तेषां वज्जणा वर्ज्जन, परिचयैरपि सातिचारता, तर्हि वन्दननमने तु ससारवृद्धि रेवेति सम्मत्त सम्यक्त्व तस्य श्रद्धा प्रतीति निर्द्धारो यस्य स सम्यग्दृष्टि जीवो ज्ञेय ।"

स स्वपरविवेकरसिकोऽनन्त विभावपद्गलकर्मविपाकावृतोऽपि महामोहाच्छादि तमप्यन्तरात्मान चिदानन्दघनीमूर्त्तस्विरूपविलासकत्वेन जानाति, नान्य ।'

अर्थ :—परम और तात्त्विक अर्थ जीवादि हैं, इन्ही का परिचय करना अर्थात् वहुमान पूर्वक जीवादि नव पदार्थों को जानने का अभ्यास करना, इसे ही परमार्थ सस्तव कहते हैं । अथवा सुदृष्टपरमार्थ —वहुश्रुत–आचार्य उपाध्याय गणि आदि की सेवा–वैयावृत्य आहारादि लाकर आवश्यक वस्तु अर्पण, शारीरिक सेवा आज्ञापालन आदि करना और व्यापन्नदर्शन–सम्यक्त्वहीन निहन्हनव पार्श्वस्थ शिथिलाचारी अथवा अन्यदर्शनी कुदर्शनी आदि का ससर्ग न करना, यही सम्यक्त्व श्रद्धा है। व्यापन्नदर्शन वाले और कुदर्शनियो के साथ परिचय रखने से ही सम्यक्त्व मे अतिचार लगता है और वन्दन वमनादि से ससारवृद्धि होती है । इससे वर्जन ही उचित है ।

सम्यक्दर्शनी आत्मा स्वपरविवेक रसिक होता हैं अर्थात् उसे व पर का ध्यान सदा रहे, इसकी सावधानी रखता है। ऐसा जीव

अनन्त वैभाविक कर्म पुद्गल का भोग करता हुआ और मोहाच्छादित अपने आत्मा को–अन्तरात्मा को चिदानन्द, घनीभूत मूर्त्त स्वस्वरूप का बिलास करता हुआ जानता है, अन्य नही। अर्थात् सम्यक्त्वरहित आत्मा को स्व का भान नही होता। क्योकि सर्वविरतित्व, देशविरतित्व और सवेगपक्ष अर्थात् सम्यग्दर्शन–ये तीनो ही मोक्षमार्ग है। जैसे कि—

ज्ञानानन्दमयोशुद्धो निर्मलाचल सद्गुण ।
भिन्नभावो प्यभिन्न स्या च्चेतन स्तस्व तन्मयः ॥

अर्थ :—आत्मा ज्ञानानन्दमय शुद्ध, निर्मल, अचल और सद्गुण वाला है। भिन्न-भिन्न भावो को जानता, देखता, भोगता हुआ भी अभिन्न है अर्थात् स्वभाव से अभिन्न रहता है। चेतन अपने स्वरूप मय है, स्वरूप मे तन्मय रहने वाला है।

गाथा .—दसणनाणा चरित्ताणि आयसभावो अणन्त परिणामी ।
शूद्ध निच्छय नयेणेय ववहारेण सकम्मगो ॥३॥

व्याख्या :—यह आत्मा शुद्ध निश्चयनय से दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप आतमस्वभाव वाला है। तत्त्वार्थ की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन, जीवादि सर्वभावो के यथार्थ अववोध को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। स्वपर विवेक ज्ञान से स्व को स्व पने और पर को परत्व रूप से जान लेने के पश्चात् स्वधर्म उपादान-ग्रहण रूप भेद ज्ञान के अवलम्वन से स्वधर्म मे रमण और पर भाव के परित्यागरूप सम्यक् चारित्र है। ऐसे ही अनन्त परिणाम वाला है। व्यवहार नय से सकर्मक है।

इस प्रकार दर्शन ज्ञान चारित्र से स्वरूपनिर्झर, स्वरूपभासन और स्वरूपरमण रूप तीनो के एकीभाव को प्राप्त आत्मा सवर परिणमन रूप आतम स्वभाव वाला है, आत्मा को अमूर्त्त, अजन्मा, अखण्ड,

अचण्ड-शान्त शुद्ध ज्ञानानन्दमय स्वरूप से अनुभव करता हुआ सम्पूर्णानन्द का साधक होता है। कहा भी है :—

मालिनीवृत्तम

"अयि ! कथमयि कृत्वा तत्व कौतूहलीसन्,
अनुभव ! भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहुर्त्तम् ।
पृथगथ विलसन्त स्व समालोक्य सम्यक्
त्यजसि झगिति मूर्त्याः साक मेकत्व मोहम् ॥

अर्थ :—हे भद्र आत्मन् ! किसी भी प्रकार से तत्व, आत्मतत्व जानने का उत्साही होता हुआ एक मुहूर्त्त मात्र स्वयं को शरीर से भिन्न-(पार्श्ववर्त्ती बनकर) अनुभव कर ! इससे स्वय की आत्मा को शरीर से पृथक् आनन्द स्वरूप देखकर तेरा शरीर के साथ एकत्व का मोह शीघ्र ही छूट जायगा।

अशुद्ध व्यवहारनय से यही आत्मा चेतना के परानुयायिनी बनने और परपरिणमन से सकर्मक बनता है। इस प्रकार वास्तव मे आत्मा आत्मरमणी ही है। किन्तु अशुद्ध परिणति से परमरमणी हो जाने पर स्वक्षेत्रावगाढ द्रव्यकर्ममालिन्य से ससार परिणाम को प्राप्त हो गया है अर्थात् ससारी बना हुआ है फिर भी उसे शुद्धचिदानन्द रूप को ही ध्येय रूप से धारण करना चाहिये।

यहाँ जिज्ञासु प्रश्न करता है कि-यदि जीव शरीर नही है तो फिर तीर्थंकरादि महापुरुषो के शरीर वर्णन से उनका स्तवन करना और उनके अतिशयादि की स्तुति करना तथा नाम जाप करना, यह आत्मस्तुति तो है नही फिर इनके करने से क्या लाभ ?

उत्तर :—जैसे स्वर्ण के आभूषणादि अनेक आकार धारण कर लेने पर भी व्यवहार नम ने स्वर्ण व्यपदेश किया जाता है। शुद्ध निश-

चय न्य से तो पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व आदि गुणो से ही स्वर्णस्वरूप है। उसी प्रकार व्यवहारनय से तीर्थंकर केवली आदि महापुरुषो के सहनन, सस्थान आदि शारीरिक स्थिति की स्तुति करने से उन्ही की स्तुति है। निश्चय नय से तो शरीरस्तवन द्वारा आत्मस्तवन अनुपपन्न ही है अर्थात् नही होता। निश्चयनय से शरीर आदि के गुण, केवली भगवान् के गुण नही है। अत अनपवर्त्तन चेतना लक्षण वाले परम-आनन्द मय केवली भगवान् के शरीरादिपुद्गलगुणो का स्तवन आत्म-स्तवन नही है। आत्मा के द्रव्यादि भेद से वर्त्तन होने के कारण उनके शरीरादिशयो से सश्लेषित-मिश्रित आत्मा की सद्भूत व्यवहारनय सेही स्तुति है। निश्चयनय से तो उनके निर्मल अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन रूप उपयोग और आत्मानन्द अनुभवमय आत्मा की परमक्षमा मार्दवादि पूर्ण शुद्धचारित्रसुख वीर्यान्वित स्थिति की स्तुति ही वास्तविक स्तुति है। इसे अन्वयस्तुति कहते हैं। अखण्ड, अबाध अशरीरी अनाहारी आदि वीतरागादि गुणो की स्तुति व्यतिरेक निश्चय स्तुति है। स्व-भाव अविर्भावलक्षण वाले निश्चय गुणो से जो बहुमानपूर्वक उनके गुणों की अनुयायिता परिणति है, वह सातात्विक भक्ति है। आहारनीहार की अदृश्यता, कमल गन्धी, श्वासोच्छ्वास, मासरुधिर की श्वेतता, शरीर निर्मलता नीरोगिता आदि शरीरानुयायी अतिशयसम्पदादि की और समस्तसशयोच्छेदक सद्धर्मदेशनादि उपकारक सम्पदा की स्तुति सम्पद्रूप स्तुति भक्ति है। हे नाथ ! मोहमुग्ध, अनादिकालीन कर्मों से बद्ध कुण्ठित तृष्णा से तप्त हमको आपके अतिरिक्त कौन तारने वाला है ? इत्यादि भद्रक भक्ति है। इस प्रकार सभी स्तुति स्तवनों मे विभाग करके जानना चाहिये। वास्तव मे स्वरूप सम्पदा का स्तुति ही तत्व भक्ति है। वास्तव मे यथार्थ ज्ञानी ही ससार से निवृत्त होता है। जैसा कि श्री आचाराग सूत्र मे कहा है :—

"सड्ढी आणाए मेहावी लोयच आणाए अभिसाभिच्चा।

'अकुतोभय अत्थि सत्थं परेण पर नत्थि असत्यं परेण पर १२५ जे कोहदसी से माणदसी, जे माणदंसी से मायदसी, जे मायदसी से लोभदसी, जे लोभदसी से पेज्जदसी, जे पेज्जदसी से दोसदसी, जे दोसदसी से मोहदंसी, जे मोहदसी से गब्भदसी, जे गब्भदसी से जम्म-दसी, जे जम्मदसी से मारदसी, जे मारदसी से निरयदसी, जे निरय-दसी से निरियदसी, जे तिरियदसी से दुक्खदसी, से मेहावी अभिनि-विट्टिज्जा ।''

आचारांग ३।४।१२५।१२६।

टीका :—'सड्ढी' इत्यादि, श्रद्धा-मोक्षमार्गोंघमेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् 'आज्ञया तीर्थंकरप्रणीतागमानुसारेण यथोक्तानुष्ठन-विधायी 'मेधावी' अप्रमतयतिः मर्यादाव्यवस्थितः श्रेण्यार्हो, नायर इति। किंच-'लोग च' इत्यादि, च समुच्चये लोक षड्जीवनिकायात्मक कषा-य लोक वा 'आज्ञया' मौनीन्द्रागमोपदेशेन 'अभिसमेत्य' ज्ञात्या षड् जीव-निकायलोकस्य यथा न कुतश्चिन्निमित्ताद् भय भवति तथा विधेय, कषायलोक प्रत्याख्यान परिज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्त्तु नं कुतश्चिद् भय-मुपजायत इति, लोकं वा चराचर माज्ञया आगमाभिप्रायेणाऽभिसमेत्य न कुतश्चिदैहिकामुष्मिलापाय सन्दर्शनतो भय भवति। तच्च भय शस्त्राद् भवति, तस्य च शस्त्रस्य प्रकर्षगति रस्त्युत नेति? अस्तीति दर्शयति-'अत्थि' इत्यादि,तत्र द्रव्यशस्त्र कृपाणादि तत्पशेनापि परमस्ति तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतर मस्ति, लोहकर्त्तु सस्कारविशेषात्, यद वा शस्त्र मित्युपघातकारि,तत एकस्मा त्पीजकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते,तनो प्यपरभिति, तथथा-कृपाणाभिघाताद् वातोत्दोपः, ततः शिरोऽर्त्ति, तस्या ज्वरः, ततोऽपि मुखशोष मूर्च्छोदय इति, भावशस्त्रपारम्पर्य त्वेक मूत्रान्तरित स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति, यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारम्पर्यं वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्ति, इति दर्श-यितु माह—'नत्थि' इत्यादि, 'नास्ति' न विद्यते किं तद्? 'अशस्त्र'

'शस्त्र' सयम तत् 'परेण पर' मिति प्रकर्षगत्यापन्न मिति, तथाहि— पृथिव्यादीना मत्र तुल्यना कार्या न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति, पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य, अथवा शैलेश्यवस्था संयमादपि पर संयमो नास्ति, तद् उर्द्ध गुणस्थानाभावात् इति भाव ।

यो हि क्रोधमुयादानते बन्धत स्थितितो विपाकतोऽनन्तानुवन्धि लक्षयत क्षयमाश्रित्य प्रत्याख्याक परिज्ञया जानति सोऽपरमानादि-दर्शयपीत्येतदेव प्रतिसूत्र लमयितव्यमित्याह—

योहि क्राध स्वरूगतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परि-हरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति, यदिवा य क्रोध पश्यति आचरति स मानमपि पश्यति मानाध्मातो भवतीत्वर्थं एव उत्तरा-वापि आयोज्यम् ।

टीका का सागश—श्रद्धावान मोक्षमार्ग पर चलने का इच्छुक साधक नीर्थकरो के द्वारा प्रणीत आगमानुसार यथोक्त अनुष्ठान करने वाला, अप्रमत्त साधु ही उपशम श्रेणी क्षपक श्रेणी करने योग्य होता है, अन्य नही। और षड्ज वनिकायात्मक लोक को भी आगमोक्ति से जानकर पृथिवीकायकादि जीवो को किसी भी प्रकार से कोई भय सन्ताप न हो, वैसा करना योग्य है, क्योकि कषाय स्वरूप लोक के ज्ञान और प्रत्याख्यान से उन पृथ्वी कायकादि जीवो की हिंसा का परिहार करने वाले मे ही छ काया के जीवो को भय नही उत्पन्न होता। अथवा आगम के अभिप्राय को जानकर वैसा आचरण करने वालो के इस लोक का या परलोक का कोई भय नही रहता।

शस्त्र दो प्रकार के है —

१ द्रव शस्त्र २ भाव शस्त्र । १ द्रव शस्त्र कृपाणादि हैं। वे एक से एक तीक्ष्णतर होते है। अथवा उपघातकारि भी शस्त्र है। जिनका

प्रयोग करने पर प्राणि को पीडा होती है। पीड़ा से दोष कुपित होते हैं—ज्वर हो जाता है, मुख शोष मूर्च्छादि होते। भाव शस्त्र क्रोधादि हैं; उनका भी परम्परा से दोष दिखलाते हुऐ आगे कहेंगे। आत्मा मे रहे हुये वास्तविक दोषो को नष्ट करने वाला उत्कृष्टतर-शस्त्र सयम है।

सयमी सभी जीवो-पृथ्व्यादि मे समदर्शी होता है सामायिक समदर्शी के होता है। समभाव को ही सामायिक कहते है। पूर्ण सयम शैलेशी अवस्था में होता है। वहाँ सर्वथा हिंसा निवृत्त बनाता है और दोप नष्ट हो जाते है।

जो क्रोध को उपादान बन्ध स्थिति, विपाक और अनन्तानुबन्धी आदि ४ लक्षणो से तथा क्षयोपरोग क्षयादि को समझकर त्यागने योग्य जान लेता है, वह मान आदि अन्य को भी जान लेता है। यही प्रति-सूत्र के साथ लगाना चाहिये।

सूत्रार्थ —जो क्रोध को उपर्युक्त प्रकार से जान कर त्याग देता है वह मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्व, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यक, दु:ख को भी जान कर इनका त्याग कर देता है अर्थात् जो भाव शस्त्र की इस परम्परा का ज्ञान होने से इनसे अभिनिवृत्त होता है, वही वास्तव मे वुद्धिमान है। ये भाव शस्त्र, आत्मगुणो को श्रद्धा, सयम, ज्ञान आदि की शक्ति को दवा कर रखते है, और आत्मा अज्ञान से इनके आधीन वनकर ससार भ्रमण वढता हुआ दु:ख भोगता रहता है; अतः आन्तरिक दोपो को जानना व त्याग करना, साधक के लिये अनिवार्य है। इनमे क्रोधादि में प्रवृत्ति करता हुआ, मोक्ष मार्ग मे वढने की अपेक्षा, ससार वृद्धि करता रहता है।

'श्रद्धा-मोक्षमार्गोद्यमेच्छा अर्थात् मुक्ति मार्ग पर चलने का उद्यम करू, ऐसी इच्छा को श्रद्धा कहते है। ऐसी इच्छा जिसे हो वह श्रद्धावान्

है। आज्ञा अर्थात् तीर्थकर प्रणीत आगम के अनुसार आगम में कहे हुए अनुष्ठान को करने वाला, मेधावी मर्यादा मे रहा हुआ है, वह श्रेणी के योग्य है, अन्य नही। लोक षड् द्रव्यात्मक है, अथवा षड् जीव निकायरूप है, व कषायरूप है ऐसा जिनेन्द्र के उपदेश से जानकर कौन ऐसा है जो निर्भय रहे। आशय यह है कि शास्त्र-श्रवण के द्वारा ससार की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है और आत्मा भवभ्रमण से डर जाता है, तथा तत्वजिज्ञासु होकर तत्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर ही निर्भय होता है, क्योकि जो अज्ञानतातत्व है, वह गुण दोष नही जान सकता। जैसे क्रोध एक दोष है, उसके आने पर साधारण जन जो स्व पर के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण क्रोध रूप ही अपने आपको कर लेता है। अथवा अज्ञानी होने से अनादि काल की आकुलता से तप्त जो चेतन के परिणाम है, वह ही क्रोध है। ऐसा शास्त्र से जान लेता है और क्रोध को जान लेने वाला, मान को भी जान लेता है कि अशुद्ध परभाव को, अवधि होने पर आत्मा का उद्धत परिणाम, मान है। इस प्रकार समस्त दुख को कर्म के कारण होना मानने वाला बुद्धिमान ही इन विषय कषायादि दोषो से निवृत्त होता है"। इससे सिद्ध हुआ कि यथार्थज्ञानी ही ससार से निवृत्त होने योग्य है। अत. ज्ञाता के उस त्याग को दिखाते है —

जह नाम कोई पुरिसो, परदव्व मिणति जाणिउं चयइ।
तह सव्वे पर भावा णाउएा विमुचये णाणी ॥७॥

जैसे कोई पुरुष भ्रम से अथवा शीघ्रतावश रजक से किसी दूसरे व्यक्ति के कपडे लेकर, 'ये मेरे ही है इस बुद्धि से पहन रहा है।' इतने में उन वस्त्रो का स्वामी आ गया और उसने कहा हे बन्धु! ये वस्त्र तो मेरे हैं, उतारो इन्हे शीघ्र। वह न उतारने लगा तो बलात् पकडकर बोला—अरे! खोलो इन्हे, ये तो मेरे है। ऐसे बार बार कहने

पर सब चिह्नादि से अच्छी तरह परीक्षा करके यह जानकर कि 'ये वस्त्र मेरे नही हैं, निश्चय ही 'ये अन्य के है' ऐसा जानकर उन वस्त्रो को त्वरित उतार देता है। वैसे ही अज्ञानीजन भी भ्रमवश राग, द्वेष, मोह, शरीर और इन्द्रिय सुख आदि परभावो को, 'अपने है, ऐसा जानकर उन्ही मे अज्ञानवश मग्न रहता है। ऐसे व्यक्ति को किन्ही यथार्थ उपकार करने वाले गुरु ने कहा—हे भद्र! ये रागादि परभाव है, इन्द्रियों द्वारा अपने विषयो के भोग से मिलने वाला सुख तुम्हारा नही है, ये तो जड़ हैं। तुम ज्ञानानन्द के भोगी हो, अमूर्त हो, इन शरीरादि के तुम कर्त्ता हो, न भोक्ता। न यह तुम्हारा कार्य है और न तुम इसके कर्त्ता हो! अनन्तजीवो के अनन्तवार द्वारा भोगकर छोडे हुए वे जड पदार्थ चल, सुखास्वाद से रहित है। इन्हे ग्रहण करते हुए और भोगते हुए ये जो आत्मधर्मा-ज्ञानदर्शनादि को आवृत्त करने के कारण बनाते हैं और अनन्त कर्मवाणियों की प्राप्ति के हेतु है अत. इन्हे छोड़ो। जैसे श्वान अस्थि को दाढो से चवाने के प्रयत्न मे अपनी ही दाढ से निकले हुए रक्त का आस्वादन करता हुआ उसे अस्थि-रस समझकर दुःख को दु ख रूप न अनुभव करके सुखानुभव करता है, वैसे ही भोगों में आसक्त जन भी सुख का अनुभव करता है। हे महानुभाव! तुम इन भोगो मे अपने आपको मोहित न करो और वास्तविकता का विचार करते हुए शीघ्रातिशीघ्र प्रतिबुद्ध होकर स्व का ग्रहण और पर का त्याग करो। वार वार यह चिन्तन करो कि ये भोगादि परभाव है। ज्ञानी सूक्ष्म बुद्धि से इनकी परिणाम-भयकरता जानकर ठीक तरह से परीक्षा करके निश्चित होने पर कि, ये परभाव है, स्वभाव नही, शीघ्र सभी परभावो को छोड़ देता है। अत सम्यग्ज्ञानी परभाव का प्रत्याख्यानी (त्यागी) होता है।

श्री भगवती सूत्र मे भी जीव अजीव आदि तत्वो के ज्ञापक के प्रत्याख्यान को ही सुप्रत्याख्यान कहा है। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी प्रकार कहा है—

पढम नाण तओ दया एव चिट्ठइ सब्व सजए।
अन्नाणी कि काही किवा नाही इछिय पावग।

अर्थ —पहले ज्ञान प्राप्त करना और फिर अहिंसामय आचरण करना, इसी प्रकार सर्व साधु करते हैं क्योकि अज्ञानी श्रेय व पाप को नही जानता। टीकाकार ने अज्ञानी का अर्थ वह क्या करेगा शुद्ध साध्य शून्य क्रिया है। अज्ञानी वस्तुत त्यागी नही, ज्ञानी ही त्यागी है।

'लोकसार' मे भी इसी अर्थ की पुष्टि की गई है।

अब पुन. परभाव क्या है ! इसी का विवेक जागृत करने को ग्रन्थकार कहते है—

णोऽहं मोहो न मे मोहो णो विभावज कारगो।
अप्पा जेसि नत्थि ताण मज्झ तेसि भिन्न तण मई ।।८।।

यहाँ निश्चय ही शुद्धफल देने मे सामर्थ्य वाला सम्यकत्व प्रादुर्भूत होकर स्वभाव से ही पुद्गल से निवृत्त होता हुआ टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव ही परमार्थ से ज्ञायक स्वभाव है। यह स्थिति होने पर अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर आत्मा मोहादि विकारो को परभाव रूप से जानकर इस विचार को दृढ करता है कि मै स्वय मोह रूप नही हूँ न मोह मेरा स्वभाव है, प्रत्युत परभाव है, मुझ से भिन्न है, मेरा नही है। और आत्मा स्वय ही विश्व को प्रकाशित करने वाला सूर्य है।

सदा विकस्वर प्रताप सम्पत रूप किरणो वाला है ऐसी चित शक्तिमात्र से स्वभाव, स्वरूप भाव द्वारा कोई आत्मा अवबुद्ध होता है, सभी आत्मा प्रबुद्ध नही होते। यदि चेतन के साथ पुद्गल की एकता एकान्त रूप से मानली जाय तो समस्त पर पुद्गलो के साधारण अवगाहन का निवारण करना अशक्य होता है। और जिस प्रकार पुद्गल परभाव है, उसी प्रकार समस्त पर द्रव्य-धर्मास्ति-

कायादि की परस्पर सामान्य अवगाहन का निवारण अशक्य होने पर भी वे है तो भिन्न ही एक रूप नही वन जाते। अपने अपने स्वभाव मे ही रहते है, अपने गुण धर्म का परित्याग कभी नही करते। किन्तु आत्मा अज्ञान वश पुद्गल जड़ के साथ स्वय को जो एक रूप मान वैठता है, वह मोह का प्रभाव है, मिथ्या धारणा है। किन्तु सम्यग्-दर्शन व सम्यग्ज्ञान हो जाने पर जड़ से सम्वन्धित रहने पर भी दधिखण्ड (शिखरन) मे दधि के स्पष्ट आस्वादवत् आत्म स्वादवाद भेद से जड़ के प्रति उसका ममत्व नही रहता, वह स्वय को आत्मरूप विचारता है और सर्वदा एकत्व भावना से आत्मरूप और पुद्गल-जड़ को पुद्गल रूप से समझता है। क्योकि स्व रस में लीन और स्व-निर्भरता का भाव ही सदा सचेतना रखने मे समर्थ है।

मैं शुद्ध, अनादि, अनन्त, चिदानन्द, स्वात्मक्षेत्रावगाढ, व्याप-व्यापकभाव से सम्मिलित अनन्त ज्ञानादि स्वशक्तियो से पूर्ण,स्वरूपमय, आत्म गुणों का महोदधि हू। अतएव राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया,लोभ, कर्म,नोकर्म–शरीर, योगाध्यवसाय, कषायाध्यावसाय, शुभाशुभानुवन्धि, पुण्यपाप हेतु भूत अध्यवसाय, श्रोत्रेन्द्रियादि पाँच इन्द्रियरूप परिणाम आदि सर्व विभाव है-परभाव है। धर्मास्तिकायादि परभावो का और अप्रशस्तकायोदय से सवलित उद्भव हुए अप्रशस्त परिणामो का मुझ में नास्तित्व है। न मैं उन भावों का स्वामी हूँ न वे मेरे अपने हैं। क्योकि अत्यन्त भिन्न स्वभाव वालो का एकत्व कैसे हो सकता है? अत. मैं, मै हूँ, और अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द, अमूर्त्तत्व, अक्षयत्व आदि गुणों का स्वामी हूँ। अन्य पुद्गल जडादि पदार्थों का स्वामी नही हूँ। इस प्रकार विभिन्न परभाव मेरे स्वभाव ही नही है, तो उत्सर्ग से शुद्धि निश्चयनय की अपेक्षा से मैं दानादि का दाता भी नही हूँ क्योंकि कोई भी द्रव्य-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गला-स्तिकाय, जीवास्तिकाय, अपने स्वभाव को किसी को देने मे समर्थ

नही। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव मे ही रहते हैं, एक दूसरे के स्वभाव का विनिमय कभी होता ही नही है, तो मेरा कैसे हो सकता है। पर पुद्गल स्कन्धो का ग्रहण, दान, (आदान, प्रदान) आत्मधर्म नही। 'जड वस्तु के दानादान मे मैं दाता या ग्राहक हूँ ऐसा भाव तो मिथ्याभिनिवेश अर्थात् झूठा आग्रह,.मिथ्या धारणा है।

इस प्रकार पुद्गलस्कन्धो का कर्ता, भोक्ता, दाता आदि मैं नही हूँ। उपाधि-शरीरादि से ही परभाव रसिक कहा जाने पर भी कि "मैं कर्त्ता, भोक्ता हूँ" वास्तव मे है नही। किन्तु ज्ञान दर्शन चारित्र रूप में परिणत आत्मा का क्या स्वरूप है, इसी को बतलाते हुए कहते है —

इक्को सुद्धो जिन्नो, दसणणाण मई सयारूवी।
तवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणु मित्तपि ॥८

व्याख्या—जो जीव अनादिकाल से मोहोन्मत्त होने से अप्रतिबुद्ध है- अज्ञानी है, वह किन्ही अनिर्विण्ण—वैराग्यमय, अत्यन्त करुणामय गुरु के द्वारा निरन्तर प्रतिबोधपाता हुआ अर्थात् सद्गुरु द्वारा सदा तत्वज्ञान श्रवण करता हुआ, किसी प्रकार प्रतिबोध पाकर जैसे कोई अपने हाथ मे स्वर्ण रखा हुआ है इसे भूला हुआ रहता है किन्तु किसी के द्वारा भान कराने पर स्वर्ण को देख लेता है।" इसी न्याय से अनादि काल से विस्मृत आत्म स्वरूप का अवलोकन करने लगता है और जान लेता है कि अहो! मैं तो परमात्मा स्वरूप हूँ। शुद्ध श्रद्धा और वैसी अनुचर्या अर्थात् अनुभव द्वारा सम्यग रूप से आत्मा का भान कर लेता है। जो ऐसा निश्चय करता है कि जैसे समस्त कर्म मल का नाश होने पर सिद्ध भगवान् निर्मल, निष्कलक असगी, ज्ञानमय, अक्षय, अज, अजर, अमर अरूपी है, वैसे ही मैं हूँ, अत वह आत्मा जैसा अनन्त केवल ज्ञानियो द्वारा मूल स्वरूप से देखा गया है वही मैं हूँ। वही

चिन्मात्र ज्योति मेरे प्रत्यक्ष रूप से है। सर्व क्रम या अक्रम से होते हुए व्यावहारिक कार्यो द्वारा चिन्मात्र रूप से भेद किया जाने वाला होने के कारण वह एक है, और नर देव तिर्यञ्च नारक पर्यायो से, राग द्वेषादि भाव कर्मों से, पुण्य पाप प्रकृति रूप प्राणातिपातादि आश्रवो से धर्मास्तिकायादि पर द्रव्यो से,' निर्जरा बन्धमोक्ष लक्षण कर्त्तव्यों से, रहित होने के कारण शुद्ध रूप है क्योकि निर्जरण योग्य कर्म पुद्गलो के रहने पर ही निर्जरा होती है। अकर्मक आत्मा के नही, अत निर्जरा आत्मधर्म नही। हेतुरूप परिणत आत्म प्रदेशो से कर्म पुद्गलो का क्षीर नीरवत् एक करना वन्ध कहलाता है, वह भी अकार्य ही है। अर्थात् आत्मा के करने योग्य नही। वन्धे हुए का छूटना मोक्ष है, वह भी पूर्णवद्ध होने से करना पड रहा है, तथापि सत्तागत धर्म नही है । आशय यह है कि सत्तागत धर्म तो केवल ज्ञातृत्व जो टकोत्कीर्णवत् भाव से अत्यन्त स्पष्ट होने मे शुद्ध, चिन्मात्र आकार से सामान्य विशेष उपयोग अर्थात् दर्शनज्ञान परिणतिरूप दर्शनज्ञानमय सकर्मा होने मे वर्णगन्ध रस स्पर्श का सवेदन रूप परिणत्व होने पर भी स्वय वर्णादिरूप से अपरिणत्व होने के कारण परमार्थ से सदैव अरूपी है। किंचिन्मात्र भी परमाणु (पुद्गलाश) आत्मा का अपना है ऐसा प्रतिभास नही होता। अज्ञानता वश और वैसी ही भावना मे रहा हुआ ससारी प्राणी कर्म का मैं कर्त्ता हूँ। इस गलत धारणा के कारण पुद्गल-जड से एकरूपता का अनुभव करता हुआ रहता है और यही वार-वार उद्भावना करता है।

६

स्वभाव की तीव्रवीर्य धारा से और विभाव की मन्दता मे तथा स्वतत्त्व की एकता मे रमणरूप कुठार से और सम्यग् ज्ञान से देखी गई व ग्रहण की गई, सन्धि अर्थात् जहाँ जीव और जड का योग है, राग द्वेषरूप मोहादि कर्म के वन्धन का मूल है। उसे जड से उखाडकर प्रस्फुरित ज्ञान ज्योतिर्मय आत्मा, समस्त शत्रुओ पर विजयी वन के राजा के समान परमात्मा परमानन्दमय दीप्तिमान् होता है। साराश

कि क्षायिक दिसम्यक्त्व धारी बनता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व आदि सम्यक्त्वयुक आत्मा शुद्ध आत्म तत्व के साध्य के अवलम्बन मे पाँच अस्वार—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप आचार मे प्रवृत्त होता है ? तथा उस आत्मा के सम्यग् दर्शनादि गुण अत्यन्त प्रवर्द्धमान होते है और यथाक्रम से गुण श्रेणी मे गमन होता है। आत्मा विशुद्धतम होता हुआ क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर मोह का सर्वथा क्षय कर देता है। घाती कर्मों का क्षय करके केवल ज्ञानी बनता है और अन्त में सर्वमनोवाक् काय रूप योगो का निषेध करके घनस्वरूप स्पर्शादिरहित गति से ऊर्द्ध गति स्वभाव धर्मास्तिकाय की विद्यमानता जहाँ तक है वहाँ तक —अर्थात् लोकान्त मे जहाँ सिद्धशिला का ऊपरी भाग हैं, वहाँ परम अव्यावाध आनन्द रूप सिद्ध भगवान् बनकर सर्वसाधक जनो के लिए ध्येय रूप से सदा अनन्त काल तक आत्मा अवस्थित हो जाता है। (यही मोक्ष है इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिये साधक की साधना है।)

इति श्रीमद् देवचन्द्र गणि विरचिते अध्यात्म प्रबोधे अपर नाम देशनासार ग्रन्थे प्रथमोऽधिकार समाप्त ॥

———

❊ द्वितीयाधिकार ❊

अत्र प्रथम अधिकार मे कहा गया लब्ध सिद्धित्ववसाध्य सिद्धत्व का मूल कारण जो भेदज्ञान है, उसे दूसरे अधिकार मे विस्तृत रूप से कहते हैं —

आया आय सहावा न परभावी कयावि वत्थुत्ते ।
(जुत्तो परेण जाओ) स परजुत्तो जाओ सग दोसेण मुक्तये ॥

आत्मा आत्मस्वभावी है, वस्तुत परभावी कदापि नही। परयुक्त जो हो गया है अर्थात् पुद्गल के साथ जो बँधा हुआ है और जड के प्रति ममत्व बुद्धि है, वह सगदोष से है, अत उस सग को छोड़ना चाहिए।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय ये पाँच अस्तिकाय हैं और सद्रूप हैं, क्योकि ये सव अपने रूप को—स्वभाव को छोड़ कर कदापि पररूप नही वनते। अत जीवद्रव्य चेतना लक्षणवान्, असख्यप्रदेशी, सच्चिदानन्दघन स्वआत्मस्वभावी है, स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव वाला है। सर्वज्ञेय वस्तुओ का ज्ञायक स्वभाव से ही जो उपर्युक्तगुणयुक्त है, वह कदापि परभावी नही होता; क्योकि जो जिसका वास्तविक धर्म नही है, उसका परिण-मन उस पर रूप मे कभी हो नही सकता और प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वभाव गुण रूप में रहता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो फिर इस ससार मे जीवो की रागद्वेपादिरूप प्रवृत्ति क्यो दिखलाई पडती है और आत्मा भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्ममय* दृष्टिगोचर होता है, ऐसा किस कारण से है ?

उत्तर यह है कि आत्मा जो पर-जड़ युक्त हो रहा है अथवा राग द्वेषरूप परिणत होता हुआ और जन्ममरणादि करता देखा जा रहा है, वह सगदोष से है। अत. पर सग छोडने योग्य है क्यो कि उप-र्युक्त सारे कार्य जन्ममरणादि रागद्वेष विकारादि सगदोष से है। सग दोष त्यागना ही श्रेयस्कर है। वास्तव में तो आत्मा तो असगी है। व्याप्य व्यापक भाव से न सगी है, न सश्लिष्ट* है। न यह पर का

---

* शरीरमय

आधार है न आधेय है। न परभावो का कर्त्ता है और न परभावो-पुद्गलादि इसके कार्य हैं। न यह परभावो का भोक्ता है, न परभाव इसके भोग्य है। अत परभाव ससर्गी नही है, किन्तु ज्ञेय और दृश्यत्व से यह ज्ञायक तथा द्रष्टा है। अत स्व स्वभावमयी ही आत्मा है। वही तो अनादि सगामी भाव से घिरा हुआ परभाव को ही अपने कार्यरूप से और भोग्यरूप से जानता हुआ परभावो का ग्राहक हो गया है। इस प्रकार विपर्यस्तविरोधी चेतना परिणत—अर्थात् रागद्वेष रूप परिणत, व ससरण अवस्था को–जन्ममरण व चतुर्गत्यादि रूप भ्रमणावस्था को प्राप्त हुआ भी समवाय सम्बन्ध के अभाव से—जड से भिन्न करने योग्य है, और भेद करने मे ही इस आत्मा की साधकता है। सर्वथा परभाव से पृथक हो जाना ही परमानन्द प्राप्तिरूप सिद्धि है।

आचाराग सूत्र के द्वितीय शीतोष्णीय अध्ययन मे कहा है —

"अणण्णे परम नाणी" व "अन्य अनन्य न पर इत्यर्थ" अर्थात् आत्मा पर नही है जड रूप नही है, परमज्ञानी है। पुन उसी सूत्र मे कहा है "वता लोगस्त सजोग जति धीरा महाजाण" टीका.—'वंता' इत्यादि 'वात्वा' त्यक्त्वा लोगरूप लोकस्य-आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्र शरीराके 'सयोग' ममत्वपूर्वक सम्वन्ध शारीरदु.खादि हेतु तद्धेतु कर्मोपादानकारण वा 'यान्ति' गच्छन्ति 'धीरा 'कर्मविदारण सहिष्णवः यान्ति अनेन मोक्षमिति यान—चारित्र तच्च अनेक भवकोटि दुर्लभ लब्धमपि प्रमाद्यत स्तथाविधकर्मोदयात् स्वभावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महच्च तद् यान च महायान, यदि ना महद्यान-सम्यग् दर्शनादित्रय यस्य स महायानो-मोक्षस्त यान्तीति सम्वन्ध अर्थात्—धीरपुरुप-कर्मों को आत्मा से दूर करने मे समर्थ है। वही लोगरस सयोगो–आत्मा से अतिरिक्त सभी धनपुत्र कलत्रादि का ममत्व

❀ मिला हुआ

पूर्वक सम्वन्ध जो शरीरादि दु खो का हेतु है, अथवा सयोग ही कर्मो-यादान का हेतु है, उसे छोड़ कर महायान—यान चरित्र को जो अनेक भावो की कोटि मे अत्यन्त दुर्लभ है, उसे पाकर भी प्रमाद से वैसे कर्मो से स्वप्न मे मिली हुई निधि के समान समझ लेता है, अत महत् शब्द का प्रयोग किया है सारांश कि चरित्र महान् है, वही मोक्ष का मार्ग है, उसे पाकर धीर पुरुष मुक्त होते है। इन उपर्युक्त वाक्यो मे भी सभी परभाव का त्याग कहा गया है, अत निश्चय करके परभावो के त्याग का प्रयत्न करना चाहिये। यह कार्य स्व पर के भेदज्ञान से होता है, अतएव कहते है —

गाथा

जीवो न धम्मदव्व नो अधम्मो नभो नोणु।
न अन्न जीआ सव्वे न वध हेउ न योगाय ॥२॥
अप्पाणमयाणता मूढा दुपरप्पवाइणो केई।
जीवं अज्झवसाण कम्म च तहा परूवन्ति ॥३॥
अवरे अज्झवसाणेमु तिव्व मदाणु भावग जीव।
मण्णाति तहा अवरे णोकम्म वावि जीवोत्ति ॥४॥
कम्म सुदय जीव अवरे कम्माणुभाग मिच्छति।
तिव्वत्तण मदत्यण गुणेहि जो सो हवइ जीवो ॥५॥
जीवो कम्म उभय दोणिवि खलु के वि जीव मिच्छति।
अवरे सयोगेण उ कम्माण जीव मिच्छति ॥६॥
एव विहा वहुविहा परमप्पाण वदन्ति दुम्मेहा।
तेण परमट्ठ वाइ णिच्छयवाईहि णिछिट्ठा ॥७॥ कुलकम्

व्याख्या —यहाँ अब यह वतलाते है कि ज्ञानरूप असाध. . . लक्षण वाला स्वय आत्मा होते हुए भी, अत्यन्त विमूढजन स्वपर विवेक से विमुख होने के कारण तत्वो का विभाजन भी ठीक ढग से नही कर

पाते और तत्व समझने मे विमूढ बने हुये, तत्व से आत्मा को न जानते हुये, बहुत से लोग अनेक प्रकार से आत्मा व पर पदार्थों को जीव कहते है । उनका निराकरण करने के लिये कहते हैं —

जीव चेतना लक्षण वाला और स्वात्मानन्द को भोगने वाला है, वह धर्मास्तिकाय नहो । धर्मास्तिकाय एक अजीव द्रव्य है, जो अन्य द्रव्य-जीव और पुद्गल-जड को गति मे अवलम्बन (सहारा)बनता है । धर्मास्तिकाय द्रव्यतः एक द्रव्य है, क्षेत्रत असख्येय प्रदेशी है, कालत. उत्पाद व्यय ध्रुव लक्षणयुक्त आदि अनन्त है, भाव से अरूपी और जीवपुद्गल को चलने मे सहायक है, वह अमूर्त है स्वय अचल है, अक्रिय अचेतन है । वह धर्मास्तिकाय जीव के साथ एक क्षेत्र मे रहता हुआ भी अलक्ष्य लक्षण वाला होने से अत्यन्त भिन्न होने के कारण जीव नही है । ऐसे ही अधर्मास्तिकाय भी जीव नही है, क्योकि स्थिति परिणत जीव पुद्गलो की स्थिति मे सहारा है, वह अधर्मास्तिकाय स्वय अचल है, द्रव्यत एकद्रव्य, क्षेत्रत असख्यप्रदेशी, कालत. उत्पाद व्यय ध्रुव लक्षणवाला अनादि अनन्त है, भावत स्थिति सहायी है । स्वय अमूर्त्त अचेतन अक्रिय है, वह जीव नही है ।

तथा नभ —आकाश जो सर्व द्रव्यो को अवकाशदायी स्थान आधार है, स्वय अचल है । द्रव्यत. एक है, क्षेत्रत अनन्तप्रदेशी है, कालत उत्पाद व्यय ध्रौव्यलक्षण अनादि अनन्त है । भावत अवगाह रूप है । अमूर्त अक्रिय अचेतन है वह आकाशास्तिकाय भी जीव नही है । अर्थात् जीव, धर्म अधर्म आकाश रूप नही है । अणु-परमाणु पूरण-गलन लक्षणवाला पुद्गलास्तिकाय है, पुद्गल परमाणु स्वरूप है और वे परमाणु अनन्त है । परमाणु का लक्षण इस प्रकार है :—

तदत्यन्त सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणु ।
एक रसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्य लिङ्गीच ॥

अर्थ—परमाणु, अत्यन्तसूक्ष्म, नित्य, एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श वाला, तथा कार्य लिङ्गी होता है। वह परमाणु द्रव्यतः अनन्त, क्षेत्रतः अविभागी, आकाश के एक प्रदेश की अवगाहना वाला है। जहाँ एक परमाणु अवगाह कर रहता है, वहाँ अवगाहन के सूक्ष्म होने से अन्य अनन्त परमाणु अवगाह कर रहते है। यह परमाणु काल से वर्णादि, पर्यायो और अगुरुलघु पर्यायो से उत्पादव्यय ध्रुव लक्षण वाला, अनादि अनन्त है। भाव से मूर्त अचेतन व अक्रिय है। सखेय, असखेय, अनन्त प्रदेशो के स्कन्ध बनने की योग्यता वाला है। पुद्गल परमाणु भी जीव नही हो सकता तथा स्वजीव द्रव्य से अन्य जो सिद्ध और ससारी जीव है वे द्रव्य से अनन्त है। क्षेत्र से एक जीव, असख्यात प्रदेशावगाही है, कालः अनादि अनन्त है, भाव से अमूर्त है, गुण से चेतना गुण वाले है, वे सब मुझ से–सत् स्वभाव से भिन्न हैं। वे मैं नही हूँ, अतः मैं ही 'मैं' हूँ, पर रूप तो नही हूँ। तथा बन्ध के सत्तावन हेतु—पच मिथ्यात्व, बारह अविरति, पच्चीस कसाय और पन्द्रह योग है। उनमें पहले के तीन चेतना के व्याकुलता रूप हैं और योग वीर्य के चपलता रूप हैं, वे सत्तावन भी अशुद्धतारूप विभाव हैं। वे न जीव के धर्म है और न जीव के गुण है। आत्मा इन सबसे भिन्न है, सर्व का ज्ञाता है। वह बन्धन के हेतु रूप नही है।

अब मिथ्यात्व एव कषायादि के अध्यवसाय-परिणाम–ससर्ग से उत्पन्न–अर्थात् जीव के साथ कर्मों का अनादि ससर्ग है और इनके—कर्मों के ससर्गवश आत्मा से ये उठते हैं। अतः किन्ही आत्माओ,विचारकों को इनमे आत्मत्व का व्यामोह हो जाता है। उसे दूर करने के लिए कहते हैं। पहले उनका अभीष्ट कहकर फिर निवारण करेंगे।

उनका अभीष्ट–धारणा क्या है ? उसे कहते हैं—

१—नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित परिणाम ही जीव है, क्योंकि

तथाविध परिणाम आत्मा को अगारे के जैसा बना देता है, वह ही जीव है। इससे अतिरिक्त कुछ दूसरा नही मिलता है।

२—अनादि अनन्त पूर्वापर भूत अवयव ससरण क्रिया रूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है, क्योकि कर्म से अतिरिक्त कुछ दूसरा उपलब्ध नही होता।

३—तीव्र और मन्द अनुभव से भेद किये जाने योग्य दुरन्त राग द्वेष रस निर्भर अध्यवसायो-परिणामो की परम्परा ही जीव है इनसे अतिरिक्त कुछ प्राप्त नही होता।

४—नवीन और प्राचीन भाव से प्रवर्त्तता हुआ नोकर्म-शरीर ही जीव है, क्योकि शरीर से अतिरिक्त कुछ अन्य पदार्थ की सम्प्राप्ति नही होती।

५—सभी पुण्यपाय रूपमय रूप से चारो ओर से अनुभव होने वाला विपाक ही जीव है, क्योकि शुभाशुभ भावो के अतिरिक्त अन्य कुछ नही मिल रहा।

६—साता असाता रूप से अभिव्याप्त, समस्त तीव्र और मन्दत्व गुणो से विद्यमान, कर्मो का अनुभव ही जीव है। क्योकि सुखदु.ख के सिवाय और किसी की उपलब्धि नही होती।

७—आत्मा व कर्म दोनो मिलित अवस्था मे रहे है और कर्म के अतिरिक्त अन्य कुछ उपलब्ध नही होता, अत जीव, आत्मा व कर्म उभयात्मक है।

८—क्रिया करने में समर्थ कर्म सयोग ही जीव है। क्योकि अष्ट कर्म के सयोग के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नही होता। इसी तरह के दूसरे भीअनेक प्रकार हैं। जिन्हे दुर्बुद्धिजन मानते हैं, और परमात्मा को भी

वैसा ही कहते है। किन्तु परमार्थवादी उन्हें* परमार्थवादी नही मानते, न कहते है। क्योकि—

> इच्चाइ सव्व भावा पुग्गल जीवाइ जोग निप्फन्ना।
> विवरीय कत्लनाहिं विहिया कह हुति ते जीवो ॥८॥

व्याख्या—उपर्युक्त सर्वभाव पुद्गल और जीव के सयोग मे उत्पन्न होते है, ऐसा सर्वज्ञ केवल ज्ञानी जिनेश्वर देवो ने कहा है। क्योकि ये अध्यवसानादि भाव विश्वसाक्षी अर्हद भगवन्तो ने पूद्गल-द्रव्य के परिणाममय वतलाये है, जो चेतनाशून्य हे, और चेतन को पुद्गल द्रव्य से अतिरिक्त वतलाया गया है, अत पुद्गल, चैतन्यस्वभाव वाला जीव नही हो सकता। यह केवल आगमों की युक्ति ही नही है, अनुभव सिद्ध भी है। जो अनुभव सिद्ध है, उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। प्रत्यक्ष को झुठलाया नही जा सकता। जो आत्मवादी है वे ही परमार्थवादी है, और यही सर्वज्ञवचन-आगम है, और स्वानुभवगर्भित युक्ति तो है ही। अव उपर्युक्त विभिन्नमान्यताओ का युक्तिपूर्वक खण्डन करते हुये ग्रन्थकार महानुभाव कह रहे हैं :—

१—नैसर्गिक रागद्वेष से कलुषित अध्यवसान-परिणामवाला वैसे परिणाम के कारण निश्चय से तन्मय जीव नही है। क्योकि जैसे कार्त्तस्वर सुवर्ण मे मिलावट के कारण जो कालिमा है, वह सुवर्ण की नही है न वह सुवर्णरूप है। परीक्षक उसे अन्य पदार्थ को मिलावट सिद्ध करता है और रसायनशास्त्री उसे दूर करने के लिए तपाने, तेजाव मे डालने आदि क्रियाओ के द्वारा कालिमा आदि दोषो को सुवर्ण से अलग करके सोने को शुद्ध वना देता है। वैसे ही विवेचक-जनो द्वारा आत्मा भी चित्स्वस्वभाव, रागद्वेपरहित समता व आनन्द-मूर्त्तिरूप जाना देखा गया है। अत रागद्वेप आत्मा नही।

---

* ऐसा कहने वालो को

२—अनादि अनन्त पूर्वापर भूत अवयव वाला ससरण लक्षण क्रियारूप क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है, ऐसा मानना भी उचित नही, क्योकि कर्म से अतिरिक्त कर्म विपाक भी इन्द्रियो से जाना जाता है और आत्मा ज्ञातारूप अतीन्द्रिय व ज्ञान लक्षणवाला उपलब्ध है।

३—तीव्र मन्द अनुभावसे विद्यमान दुरन्त राग रस निर्भर, अध्यवसाय की परम्परा का बढना-चलते रहना तद्रूप् भी निश्चय से जीव नही है, क्योकि विवेकी जनो द्वारा आत्मा चित्स्वभाव ज्ञानरूप जाना देखा व अनुभव किया जा रहा है।

४-नये पुराने आदि व्यवस्था-भेद को प्रवर्त्तमान नोकर्म (शरीर) भी जीव नही हैं; क्योकि शरीरादि के अतिरिक्त अन्य की स्वय को ही अनुभूति हो रही है।

५—सर्व जगत् कोपुण्य पापमय् रूप से आक्रान्त करने वाला कर्म-विपाक भी वास्तव मे जीव नही है; क्योंकि शुभाशुभ (पुण्य पाप) भाव के अतिरिक्त रूप से आत्मा ज्ञानानन्दमय उपलब्ध हो रहा है।

६—साता असतरूप से अभिव्याप्त, समस्त तीव्र मन्दत्व गुणो से भेद किया जाने वाला कर्मानुभाव भी जी, निश्चित रूप से नही है, क्यो कि सुख दुखके अतिरिक्तरून से अकायावाधअखण्ड मय, चित्स्वभावमय आत्मा का विवेकशील साधक स्वय अनुभव करता है।

७—जीव कर्म दोनो मिले हुये उभयात्मक रूप से उपलब्ध होते है, अतः जीव कर्म उभयात्मक आत्मा है, यह मान्यता भी मिथ्या है, क्योकि वस्तु स्वभाव से आत्मा, समस्त पर सयोगो मे अतिरिक्त अमूर्त, अखण्ड, अनन्तचैतन्यरूप से सदा ज्ञायक स्वभाव वाला स्वय को अनुभव करता है।

८—अर्थ क्रिया समर्थ कर्म सयोग जीव है, यह मान्यता भी ठीक नहीं; क्योकि कर्म सयोग, पलग पर सोनेव ाले पुरुषवत् है। जैसे पर्यंकशायी पुरुष, पर्यक से पृथक् है, तद्वत् आत्मा भी अष्ट कर्मो से पृथक है, क्योकि बुद्धिमान् विवेकी जनो को स्व पर के विवेचन द्वारा कर्म का जड स्वभाव व आत्मा का चित्स्वभाव स्वत' अनुभव होता है।

पुद्गल भिन्न आत्मोपलब्धि के प्रति यदि साधक आत्मा को किसी प्रकार का सशय भ्रम, या विप्रतिपत्ति हो, तो वह स्वय अपने उपयोग-ज्ञान दर्शन से आगमोक्ति की साक्षो से आत्मा का अनुशासन करे अर्थात् शिक्षा दे।

"विरम विरम भ्रातरात्मनो भिन्न भावात्'
स्वयमपि चिद्रूय पश्य षण्मासमेकम् ॥
न खलु न खलु गन्छ स्वीयभाव परेषु,
भवति समुपलब्धि स्वात्मभावस्य पूर्णा ॥१॥

हे चेतन! हे भ्रात! आत्मा से भिन्न स्वरूपवाले भोगो से विरम विरम अर्थात् उनसे विरक्त हो, विरक्त हो, और छह महीने की अवधि मे मात्र चिद्रूप आत्मा को स्वय देख! तथा अपने स्वभाव को पर-भोगादि में मत लेजा, निश्चय से मत जा! ऐसा करने से ही स्वात्मभाव सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध हो जाता है। अर्थात् स्वरूप ज्ञान होता है।

किसी अपेक्षा से कुछ अध्यवसाय-मन. परिणाम जो सयोगजन्य हैं, वे अन्वयरूप से प्रतिभासित भले होते हों पर वे अन्य ही हैं, शुद्ध आत्मा मे नही, ऐसा जानकर जैसे जिसकी पाद गमन शक्ति न्यून या मन्द है, वह यष्टि-लकडी-वेत का सहारा लेकर चलता है, पर उसे भूषण रूप नही मानता, और सामर्थ्य की कमी का चिन्ह मानता है, वैसे ही साधक दशा में निमित्त का आलम्बन भी आत्मा की अपूर्णता का लिङ्ग चिन्ह है। विशेष क्या कहे, ज्ञायक आनन्द रूपस्थ साधर्म्य पर

द्रव्य का आलम्बन भी अपनी सामर्थ्य की न्यूनता के निवारण के लिये है, आत्मा की पूर्णता के लिये नही। आत्मा के अतिरिक्त सभी भाव जड़ हैं, इसी को कहते हैं,

स अट्ठविह पिय कम्म सव्व पुग्गलमय भणति केवलिणो।
जस्स फल सव्वंपि रोहग आय धम्मस्स ॥८॥

व्याख्या—योग स्थान, कषायस्थानादि अशुद्ध अध्यवसाय मन. परिणामो की उत्पत्ति आदि सभी अष्ट विध कर्म जनित भाव पुद्‌गलमय हैं, ऐसा सर्व केवल ज्ञानी कहते है। उन कर्ममय पुद्‌गलो का जो विपाक काष्ठ शाखा दिशा मे आये हुये फल रूप से अभिलिप्त-सम्बद्ध है, वह अनाकुलत्व लक्षण सुख नामक आत्म स्वभाव के लक्ष्य हीन होने से दु ख रूप हो जाता है और उससे होने वाले मन के अध्यवसाय जो आकुलता लक्षण वाले है, वे भी वैसे हो जाते हैं। अत. वे चिदन्वय का विभ्रम होने पर भी आत्मा के स्वभाव नही हैं, किन्तु पुद्‌गल के स्वभाव है। कोई शका करे कि जब अध्यवसायादि पुद्‌गल के स्वभाव हैं; तो उन्हे जीवत्व रूप से क्यो सूचि त किया गया है ? समाधान यह है,कि जिनेश्वरदेवो ने व्यवहार का दर्शन कराने को ऐसा कहा है। जीव मुक्त पुद्‌गलो मे योग कषायादि विकार वास्तव मे नही होते किन्तु तीर्थ-प्रवृत्ति के लिये व्यवहार से उनमे जीवत्व निरूपण किया है। जैसा कि आत्मा आठ प्रकार का आगम मे है। द्रव्य आत्मा, कषायात्मा, योगोत्मादि। वह इसीलिये है कि जीव इनसे निवृत्त होकर, ज्ञानात्मा दर्शनात्मादि बने। यदि ऐसा न कहते और परमार्थ से जीव पुद्‌गल भिन्न ही है, तो त्रस स्थावरादि जीवो का भस्मवत् नि शक उपमर्दन करते हुये हिंसा भी नही होती और उस हिंसा के अभाव मे वन्ध भी नही होता। तब जो स्थिति प्रत्यक्ष है, उसका भी अपलाप हो जाता और न किसी के वन्ध होता, न भोग, और न मुक्ति, और इनके अभाव मे उपदेश की भी आवश्यकता क्या थी ? परन्तु ऐसा है नही ! जीव राग

द्वेष के परिणामों से वधा हुआ है, अनादि कालसे वन्धता है। अतः इन दोषो के कारण जन्म मरण की परम्परा बढ़ती है और आत्मा दु ख भोगता है। स्वाभाविक भाव दया से प्रेरित और सर्व ज्ञानी तीर्थंकर महा पुरुष आत्माओ की मुक्ति के लिये ही,धर्म मार्ग का उपदेश देते है। और राग द्वेप से बधते हुए विमूढ जीव को मुक्त करना है, अत वह राग द्वेष मोहादि का परमार्थ से भेद दिखलाने पर ही मुक्त होने का उपाय ग्रहण करने का प्रयत्न करेगा। वन्ध का निश्चय से अभाव मान लेने पर तो मोक्ष का भी अभाव हो जाता है। ये राग द्वेष जीव से भिन्न है, ऐसा है तो जीव का क्या लक्षण है ? और वास्तव मे जीवका स्वरूप कैसा है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते है—

अरस मरूव मगंध अव्वत्ता वेदणा गुण मसद्द ।
जण गलिंग ग्गहणा जीव मणिद्दिद्व सठाण ॥१०॥

व्याख्या—वह रस जो पुद्गल का गुण है, पुद्गल द्रव्य से भिन्न नही रहता। आत्मा स्वय पुद्गल द्रव्य के गुणो से भिन्न हैं; उन पर क्योकि परमार्थ से आत्मा का स्वामित्व नही है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, कि द्रव्येन्द्रिय के अवप्टव्ध हो जाने अर्थात् रोगादि कारण से जिह्वा की शक्ति नप्ट हो जाने पर स्वाद का अनुभव नही होता। भावेन्द्रियाँ व द्रव्येन्द्रियाँ क्षायोमशमिक भाव से होती हैं और भावेन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय के आलम्वन से द्रव्येन्द्रियाँ अपना विषय ग्रहण करने मे समर्थ होती है। सकल ज्ञेय ज्ञायक को तादात्म्य वाले आत्मा के रस ज्ञानरूप परिणत होने पर भी स्वय रस रूप परिणत नही होता , अतः आत्मा 'अरस' है। इसी प्रकार आत्मा अरूप, अगन्ध अस्पर्श और शब्द रहित (अशब्द) है श्रुत ज्ञान से सज्ञादि का ग्रहण करने वाला होने पर स्वय अशब्द है। द्रव्यान्तर अर्थात् अन्य द्रव्य से वने हुए शरीर सस्थान से ही सस्थान है, ऐसा निर्दिष्ट करना अशक्य है क्योंकि नियत स्वभाव से

अनियत सस्थान अ त शरीरवर्ति होता है, और सस्थान नाम कर्म के, विपाक का निर्देश पुदगलो मे होता है। इस तरह आत्मा चारो ओर मे समस्त वस्तुओ से सवलित (घिरा हुआ) है। सहज सवेदन (ज्ञान) होने पर भी स्वय अखिल लोक सबलन शून्य है, और निर्मल अनुभूति वाला तथा सस्थान रहित है। जीव का कोई सस्थान निद्दिष्ट नही है, षड्द्रव्यात्मक लोक की ज्ञेयादि रूप से व्यक्तता होने से क्षणिक व्यक्ति-मात्र के अभाव से अव्यक्त रूप प्रतिभासता हुआ भी, व्यक्त स्पर्शवाला होने से, स्वयमेव वाह्य अभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव किया जाता हुआ और व्यक्त होने पर भी क्षण मे ही प्रद्योतमान होने से अव्यक्त है। रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, सस्थान और व्यक्तत्व के अभाव मे भी स्वसवेदन बल से नित्य मानते हुए, प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमेय मात्र होने से, अलिङ्ग आत्मा का ग्रहण है। सारा ज्ञान (प्रमायी* विवेचक के सर्वस्व समर्पित है) समस्त लोकालोक को पूर्णरूप से विना किसी की सहायता के सर्वकाल के भावो मे किञ्चित् भी विचलित नही होते हुए अनन्य साधारणतया स्वभावभूत स्वय अनुभव किए जाते हुए चेतना गुण से सदैव अन्त प्रकाशमान होने से और चेतनागुण होने से वही आत्मा निर्मल आलोक वाला भगवान्-स्वरूप अकेला टकोत्कीर्ण प्रत्यक्ष ज्योति ही जीव है। सर्व भावो से ऊपर, और सर्व अनन्त पर द्रव्यो से भिन्न, सर्व ज्ञेय का ज्ञायक, ऐसा आत्मा आत्मरूप से स्वीकार करो यह ग्रन्थ-कार का उपदेश है। आत्मा के अतिरिक्त सभी भाव पौद्गलिक और पुद्गलयोग जन्य है। और कहा भी है—

जीवस्स नत्थि वण्णो, णविगधो नवि रसो ण विय फासो।
णवि सद्द न सरीर, णवि सठाण न सहणण ॥११॥
जीवस्स णत्थि रागो, णवि दोसो ण विज्जम् मोहो।
णो पच्चयाण कम्म, णो कम्मा चावि सेणस्यि ॥१२॥

---

* अर्थात् प्रज्ञायुक्त विस्तृत विवेचक के आधीन है। सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञातक है।

जीवस्स णत्थि वग्गो, ण वग्गणा णेव फ्फड्डया केई ।
णो अज्झवसाणा, णेव अणुभाग गणाणि ॥१३॥
आयस्स णत्थि केई जोगद्वाणा ण वंचणा वा ।
णेव य उदय द्वाणा ण मग्गणा ठाण माईया ॥१४॥
णो ठिई वधठ्ठाणा, ण ठिई ठाणा ण सकिलेस ठाणा य ।
णेव विसोही ठाघा सजमा लद्धि ठाणा य ॥१५॥
णेव य जीव द्वाणा, ण गुणठाणा मीसभावा जे ।
ए ए मुग्गल प्पभवा पुग्गल सजोग पभवा य ॥१६॥

व्याख्या —त्रिकाल अखण्डित चेतनादि लक्षणवान् जीव के श्वेतादि वर्ण्य, सुरभिदुरभिरूप गन्ध, तिक्तादि रस, गुरुलघु शीत उष्ण आदि स्पर्श, और शुभाशुभ मिश्रादि भाषा रूप शब्द नही है। ये जीव के गुण नही है। चेतना अनुभूति से भिन्न ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं। जो औदारिक वैक्रियक अथवा तेजस, कार्मण शरीर आदि है ये भी जीव के नही है। पुद्गल द्रव्य परिणाम मय होने से अनुभूति भिन्न है। आत्मा की शुद्ध चेतना से अवष्टब्ध शरीर रागयुक्त आत्मा के वीर्य से गृहीत शरीर नाम कर्म प्रकृतिविपाकोदय जन्य होने से आत्मस्वरूप नही है। समचतुरस्रादि सस्थान और वज्रर्षभनाराचादि सघयण भी पुद्गलस्कन्ध होने से जीव नही है। जो प्रीति रूप राग है, वह भी कषाय से अवष्टब्ध चेतनाशक्ति द्वारा गृहीत कर्मोदय का मूल है, अत आत्मा राग रूप नही है क्योकि जीव के अनादि पुद्गल भोग से उत्पन्न, इष्टता के परिणाम, रूप राग का आत्मा के स्वभाव के प्रकट होने पर सर्वथा अभाव हो जाता है। द्वेष भी अप्रीति के परिणाम है क्योकि पर-जड-पुद्गल सयोग के निमित्त से उत्पन्न होता है और आत्मा का स्वभाव नही है और तत्व का अज्ञान रूप मोह है, वह भी आत्मा का नही, क्योकि

विपर्यस्त चेतना से बंधे हुए जो मिथ्यात्वरूप पुद्गल है, उनके उदय से मोह उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग लक्षण जो कर्मबन्धन के हेतु है वे भी सब जीव के नही है क्योकि ये सब पुद्गल परिणाममय है। आत्मा मे जड सग से अशुद्ध अध्यवसाय रूप विपाक के उदय से ये उत्पन्न होते हैं और आत्म स्वरूप से विभिन्न है और जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप आठ कर्म है, वे भी उक्त हेतु परिणत आत्मा के वीर्य से गृहीत कार्मण वर्गणा के समूह रूप होने से, आत्मा के गुणो को रोकने रूप विपाक वाले होने और स्व स्वभाव से भिन्न होने से आत्मा नही है।

आहार पर्याप्ति द्वारा गृहीत पुद्गल परिणमन रूप के कर्म पच शरीर आदि की ३६ प्रकृतियाँ इस प्रकार है—

नाम ध्रुवोदय चउतणुवधाय साहारणियर जोयतिग।
पुग्गल विवागि बधो पयइठिइ रस ययेस त्ति ॥२१॥

(पचम कर्मग्रन्थ)

अर्थ—नाम कर्म की १२ ध्रुवोदय प्रकृतियाँ—१. निर्माण २ स्थिर ३ अस्थिर ४ अगुरुलघु ५ शुभ ६ अशुभ ७ तेजस ८ कार्मण ९ वर्ण १० गन्ध ११ रस १२ स्पर्श १३ अन्य प्रकृतियाँ औदारिका शरीर १४ वैक्रयिक शरीर १५ आहारिक शरीर १६ औदारिक अगोपाग १७ वैक्रयिक अगोपाग १८ आहारक अगोपाग १९ समचतुरस्र २० न्यग्रोध २१ सादि २२ वामन २३ कुण्ड २४ हुण्ड, ये ६ सस्थान। २५ वज्रर्षभनाराच २६ ऋषभनारा २७ नाराच २८ अर्द्धनाराच २९ कीलक ३०. सेवार्त्त ये ६ संहनन। ३१ उपघात ३२, साधारण ३३ प्रत्येक ३४ उद्योत ३५ आतम ३६ पराघात। ये ३६ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकिनी है।

ये भी जीव नही हैं क्योंकि नोकर्म औदारिकादि ५ वर्गणा के स्कन्ध स्वरूप शरीर हैं। अतः नोकर्म जीव नही हो सकता। शरीर कर्म वर्गणा से वना हुआ है। सत्तागत प्रकृति विपाकोदय से औदारिकादि नये पुद्गलों का स्कन्ध रूप है और आत्मा के अशरीरी आदि गुणो का रोधक तथा आत्म शक्ति से भिन्न है।

अनन्त जीवो का एक वर्ग शरीर में रहने रूप लक्षण कहा जाता है, वह भी जीव का स्वरूप नही है, क्योकि वह साधारण नाम कर्म-बिपाकजन्य है और वर्ग से सभी जीवो की अवगाहना भिन्न है। वर्गणा भी जीव नही है। वर्गणा ८ हैं। १ औदारिक २ वैक्रयिक ३ आहारिक ४ तैजस ५ भाषा ६ श्वासोच्छ्वास ७ मन और ८ कार्माण ये दो दो प्रकार की हैं—१ ग्रहण योग्य २ अग्रहण योग्य। ऐसे इनके १६ भेद है। ध्रुवाध्रुव दोनो शून्या है—

प्रत्येका शून्या, वादर साधारणा शून्या, सूक्ष्म साधारणा शून्या अचित महास्कन्ध रूपा आदि इन वर्गणाओ के २८ भेद हैं। ये सव पुद्गलो का समूह होने से व आत्मानुभूति से भिन्न होने के कारण जीव नही हो सकती।

स्पर्द्धक—(जीव के द्वारा एक समय मे ग्रहण योग्य पुद्गल समूह विशेष) भी जीव नही है।

जो अति तीव्र या मन्द रस वन्ध हेतु भूत कर्म दल विशिष्ट के न्यास* लक्षण स्पर्द्धक स्थान हैं, वे सव जीव के नही हैं; अपितु स्वपर के एकत्वव का अभ्यास होनेपर शुद्ध चित् परिणमों से अतिरिक्त लक्षण वाले सर्व अशुद्ध अध्यवसाय स्थान जीव के योनि प्रति विशिष्ट प्रकृति रस परिणाम लक्षण वाले अनुभाग स्थान हैं। वे यथार्थ आत्म स्वरूप में नही हैं; अतः आत्मा के नही हैं।

* रखना

योगस्थान भी आत्मा के नही है, काय, वाड् मनोयोग रूप वीर्य-शक्ति विशेष से अविभागी चल वीर्य लक्षण भाव योग स्थान हैं। और काय वाड्, मनोवर्गणा रूप द्रव्य योग हैं, अत आत्म स्वरूप नही हो सकते।

बन्ध स्थान भी आत्मा के नही है। प्रतिविशिष्ट प्रकृति परिणाम लक्षण जो बन्ध स्थान हैं, वे भी सर्व विभावजन्य है, अत आत्मा के नही हो सकते। और जो स्वफल देने मे समर्थ कर्म अवस्था लक्षण रूप उदयस्थान हैं; वे भी सब जीव के नही है।

गति आदि चवदह मार्गणा :—१ गति २ इन्द्रिय ३. काय ४.योग ५. वेद ६. कषाय ७ ज्ञान ८ सयम ९ दर्शन १०. लेश्या ११. भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ सज्ञित्व १४ आहारकत्व। ये भी आत्म-रूप न होने से आत्मा के नही हैं।

इसी प्रकार स्थिति बन्ध स्थान, स्थिति स्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धि स्थान, सयम स्थान, लब्धि स्थान, जीव स्थान और गुण स्थान आदि जो मिश्र (जीव पुद्गल के योग से होने वाले) भाव है, वे सब पुद्गल जनित और पुद्गल सयोग जनित है अतः मिथ्यात्वादि चवदह गुण स्थान भी साधक अवस्था रूप होने से उत्सर्ग स्वरूपोपादान से आत्म स्वरूप नही है।

इस प्रकार इन सर्व से भिन्न, चिदानन्द रूप सम्यग् ज्ञान दर्शन अव्याबाधादि अनन्त धर्मात्मक, नित्यादि अनन्त स्वभावमय आत्मा है। रागादि सभी विभाव है वे जीव के नही हैं। इन परभावो और पर सयोगजन्य भावो से आत्मा पृथक् ही है। यहाँ इतना ध्यान रखना है, कि व्यवहारनय वास्तव मे अशुद्ध पर्यायाश्रित होने से "जीव के पुद्गल

सयोग वश से अनादिबन्ध पर्याय का उदय है और पर्याय, कुसुम्भ (कसूम्बा) से रगे हुये सूती वस्त्र के समान हैं, औपाधिक भाव का का अवलम्ब्रन लेकर जीव परभाव को अपना भाव समझ कर करता है, व्यवहार नय से ऐसा मानता है। निश्चय नय तो शुद्ध द्रव्य पर्यायाश्रित होने से केवल जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्ब कर चलता है और समस्त पर भाव का निषेध करता है। अतः वर्णादि तथा गुण स्थानादि अनन्त भाव जो जीव के व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं, वे निश्चय नय को अपेक्षा से जीव के नही होते, ऐसी प्रज्ञापना करना युक्तियुक्त है।

अब यहाँ यह शका होती है कि वर्णादि भाव जीव के निश्चय नय से है ही नही, तो ससारी जीव के यह सब कैसे दिखते हैं ? इसका समाधान यो है—

ए एहिय मवधी जहेव स्वीरोदय मुणेयव्वो ।
णय होति तस्स ताणिओ उवओग गुणाहि ओ जम्हा ॥१७॥

व्याख्या—जैसे पानी मिले हुये दुग्ध का जल के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी स्व लक्षण क्षीरत्व व्याप्य होने से व जल से अधिक रूप से प्रतीत होने से दुग्ध जल नही है। और जल दुग्ध नही है। तथा जल और दुग्ध मे उष्णता अग्नि के सम्पर्क से होती है, वह भी जल या दुग्ध का स्वभाव नही ; क्योकि अग्नि व जल का तादात्म्य सबन्ध नही है। उसी प्रकार वर्णादि पुद्गल द्रव्य परिणाममिश्रित आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी आत्मा का स्वलक्षण तो उपयोग गुण व्याणतया सर्व पर द्रव्यो से अधिकता रूप प्रतीत हो रहा है ; अत पुद्गल व आत्मा का सम्बन्ध क्षीर नीरवत् या जल उष्णता रूप है। जल का द्रवत्व और अग्नि का

उष्णत्व जो गुण है, इसके कारण क्षीर नीर का व जल उष्णता का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर इनका सम्बन्ध तादात्म्य नही है, क्योकि क्षीर से नीर पृथक किया जा सकता है। जल का सम्पर्क अग्नि से हटने पर वह शीतल हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के भी जो वर्णादि विविध भाव प्रतीत होते हैं, वे निश्चय से आत्मा के स्वरूप या भाव नही है। अत आत्मा सर्व परभावो से वास्तव मे भिन्न है और वही उपादेय है। इसी को विशेष रूप से परिपुष्ट करने के लिये कहते है—

तत्थ भवे जीवाणा ससारत्थाण होति वण्णाई।
ससार पमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ कोई ॥१८॥

व्याख्या —जो सभी अवस्थाओ मे तादात्म्य रूप से व्याप्त होता है, तादात्मकत्व व्याप्ति शून्य नही होता और तब उसका उसके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहलाता है। अर्थात् उसी को तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहते है।

सासारिक सभी अवस्थाओ मे वर्णादि व्याप्त जीव का वर्णादि की व्याप्ति से शून्य हो जाने पर शुद्ध रूप होता है।

"वही तादात्म्य सम्बन्ध है। जो सब अवस्थाओ मे रहे" यद्यपि जीव का ससार अवस्था मे वर्णादि के साथ एकत्व है फिर भी, वह सिद्धावस्था मे वह सर्वथा वर्णादि से विमुक्त हो जाता है। अतः वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्बन्ध नही है। कई लोग वर्णादि भाव पुद्गल द्रव्य का अनुगमन करते हुये, पुद्गल के वर्णादि के साथ तादात्म्य विशेष रूप से प्रकट करते हैं, वैसे ही ये वर्णादि भाव क्रमश जीव का अनुगमन करते हुये रहते हैं अत जीव का वर्णादि के साथ भी तादात्म्य

संयोग वश से अनादिबन्ध पर्याय का उदय है और पर्याय, कुसुम्भ (कसूम्बा) से रगे हुये सूती वस्त्र के समान हैं, औपाधिक भाव का का अवलम्बन लेकर जीव परभाव को अपना भाव समझ कर करता है, व्यवहार नय से ऐसा मानता है। निश्चय नय तो शुद्ध द्रव्य पर्यायाश्रित होने से केवल जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्ब कर चलता है और समस्त पर भाव का निषेध करता है। अतः वर्णादि तथा गुण स्थानादि अनन्त भाव जो जीव के व्यवहारनय की अपेक्षा से है, वे निश्चय नय को अपेक्षा से जीव के नही होते, ऐसी प्रज्ञापना करना युक्तियुक्त है।

अब यहाँ यह शका होती है कि वर्णादि भाव जीव के निश्चय नय से है ही नहीं, तो ससारी जीव के यह सब कैसे दिखते हैं ? इसका समाधान यो है —

ए एहिय सवधी जहेव स्वीरोदय मुणेयव्वो ।
णय होंति तस्स ताणिओ उवओग गुणाहि ओ जम्हा ॥१७॥

व्याख्या —जैसे पानी मिले हुये दुग्ध का जल के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्वन्ध होने पर भी स्व लक्षण क्षीरत्व व्याप्य होने से व जल से अधिक रूप से प्रतीत होने से दुग्ध जल नही है। और जल दुग्ध नही है। तथा जल और दुग्ध मे उष्णता अग्नि के सम्पर्क से होती है, वह भी जल या दुग्ध का स्वभाव नही ; क्योकि अग्नि व जल का तादात्म्य सवन्ध नही है। उसी प्रकार वर्णादि पुद्गल द्रव्य परिणाममिश्रित आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्वन्ध होने पर भी आत्मा का स्वलक्षण तो उपयोग गुण व्याणतया सर्व पर द्रव्यो से अधिकता रूप प्रतीत हो रहा है ; अत पुद्गल व आत्मा का सम्वन्ध क्षीर नीरवत् या जल उष्णता रूप है। जल का द्रवत्व और अग्नि का

उष्णत्व जो गुण है, इसके कारण क्षीर नीर का व जल उष्णता का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध प्रतीत होता है, पर इनका सम्वन्ध तादात्म्य नही है, क्योकि क्षीर से नीर पृथक किया जा सकता है। जल का सम्पर्क अग्नि से हटने पर वह शीतल हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के भी जो वर्णादि विविध भाव प्रतीत होते हैं, वे निश्चय से आत्मा के स्वरूप या भाव नही है। अत आत्मा सर्व परभावो से वास्तव मे भिन्न है और वही उपादेय है। इसी को विशेष रूप से परिपुष्ट करने के लिये कहते हैं—

तत्थ भवे जीवाणा ससारत्थाण होति वण्णाई।
ससार पमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ कोई ॥१८॥

व्याख्या —जो सभी अवस्थाओ मे तादात्म्य रूप से व्याप्त होता है, तादात्मकत्व व्याप्ति शून्य नही होता और तब उसका उसके साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध कहलाता है। अर्थात् उसी को तादात्म्य लक्षण सम्वन्ध कहते है।

सासारिक सभी अवस्थाओ मे वर्णादि व्याप्त जीव का वर्णादि की व्याप्ति से शून्य हो जाने पर शुद्ध रूप होता है।

"वही तादात्म्य सम्बन्ध है। जो सब अवस्थाओ मे रहे" यद्यपि जीव का ससार अवस्था मे वर्णादि के साथ एकत्व है फिर भी, वह सिद्धावस्था मे वह सर्वथा वर्णादि से विमुक्त हो जाता है। अतः वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्वन्ध नही है। कई लोग वर्णादि भाव पुद्गल द्रव्य का अनुगमन करते हुये, पुद्गल के वर्णादि के साथ तादात्म्य विशेष रूप से प्रकट करते हैं, वैसे ही ये वर्णादि भाव क्रमश जीव का अनुगमन करते हुये रहते हैं अत जीव का वर्णादि के साथ भी तादात्म्य

है" । इस प्रकार का अभिनिवेश रखने वाले है । उनके मत में असाधारण वर्णादि आत्मक पुद्गल लक्षण, पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ स्वीकार करने से जीव और पुद्गल की अविशेष प्रसक्ति (मिलन) होने पर भिन्न जीव का अभाव हो जाता है । और तब आत्मा का भी अभाव हो जाता है । वास्तव मे ससारी जीव का पुद्गल के साथ संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नही । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि वर्णादि भाव जीव नही हैं, और रागादि भाव भी जीव के स्वभाव नही है किन्तु चारित्र मोहनीय के विपाक से उत्पन्न अव्रत रूप हैं । तथा क्षमामाद्र्दवादि धर्मवान् आत्मा भी इस चारित्र मोहनीय के उदय से कलुषीकृत आत्मा होते हैं । अर्थात आत्मा को मलीन बनाते है । और कलुषीकृत चेतना मय हेतुमद् क्षयोपषाम भाव वाले आत्मा के रागादिभाव होते है, वे हेतु मद् भाव से उत्पन्न होने के कारण व्युत्पत्ति लक्षण सयोग सम्बन्ध से ही हैं क्योकि विभावों का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध नही है । इस प्रकार जो भाव, कर्म निमित्त से होते हैं, वे जीव के स्वभार्व-स्वधर्म नहीं । और ऐसे ही साधक अवस्था में होने वाले धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान आयुजीकरण आदि जो सिद्धत्व रूप कार्य का निष्पादन करने के लिये आत्मा के द्वारा किये जाते है और आत्मागुण एकत्व भाव हैं, वे भी सिद्धत्व अवस्था मे प्राप्त न होने से ज्ञानादि गुणवान् आत्मा के स्वधर्म नही हैं, क्योंकि वे साधक अवस्था मे ही उपलब्ध होते हैं । पूर्ण अखण्ड सिद्धावस्था मे नही मिलने वाले वे भाव, स्वरूप नही हैं । स्वरूप की उत्पत्ति मे सहायक रूप मात्र है । इस प्रकार इन समस्त और इस प्रकार के भावो से भिन्न, शुद्ध आनन्द लक्षण आत्मा ही श्रद्धेय-अर्थात् श्रद्धा करने योग्य है ।

तब आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है । इस जिज्ञासा की

शान्ति हेतु कहते हैं —

अनाद्यनन्तमचल स्वसवेद्य सदा शुचि ।
निष्कलङ्क मसयुक्त स्वरूपस्थमजमृजु ॥१॥
सज्ज्ञान दर्शनानन्द-रूप चारित्रलक्षणम् ।
अमूर्त्तं पूर्णविज्ञान स्वसत्ताभाववेदकम् ॥२॥

अर्थ —आत्मा अनादि, अनन्त, अचल, स्वसवेद्य अर्थात् स्व के जानने योग्य, सदा पवित्र, निष्कबल, किसी के साथ सयुक्त नही है। स्वरूप मे रहा हुआ, अजन्मा और ऋजु सरल है। ॥१॥

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और स्व आनन्द रूप चारित्र लक्षण वाला है, अमूर्त, पूर्ण विज्ञानी तथा स्वसत्ता भाव का अनुभव करने वाला है।

अनादि परभाव-जड़ के ससर्ग से समुद्भूत विपर्यय व्यामोह आदि दोष समूह के सन्निपात से एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदि रूप से भव नाटक करता हुआ यह न नर है, न नाटक इसका रूप है। यह शुद्ध चिदानन्द स्वभाव वाला होते हुये भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के विपाक से आवृत्त ज्ञानादि गुणके उपकरण रूप से प्रवृत्त होता हुआ, स्वीय धर्म कर्त्तृत्वादि शक्ति वाला होने परभी पुद्गल भोग, ग्रहण, अनुयायी, कर्त्ता रूप से परभाव करता हुआ, द्रव्यकर्म नोकर्म करने से तद् भोग्य भोगी भूत जानता है और परभाव की एकता से दुख को भी सुखबुद्धि से भोगता हुआ, पुन पुन. उसी परभाव को करता है, तथापि न वह आत्मा परभाव का कर्त्ता है न भोक्ता जैसे नीचे का उदाहरण है — रज पर्व (धूलण्डी) क्रीडा मे लीन असंयमी पुरुष असत् पुरुषो द्वारा धूल से भराजाने,असत् कलक दिये जाने, असभ्य अश्लील शब्दो द्वारा उपहास किये जाने पर भी जैसे प्रसन्न होता है। वैसे ही जो जीव मोहग्रस्त है,

वह कर्मादि परभाव का कर्त्ता भोक्ता असद् भावों के द्वारा कहा जाने पर भी वर्तमान अवस्था में ही अज्ञानवश मग्न रहता है। अतएव तीर्थङ्कर प्रणीत आगम श्रवणादि द्वारा आत्मा की यथार्थ श्रद्धायुक्त हो स्वपर का अवभासन (ज्ञान) कराने वाले ज्ञान द्वारा पुद्गलादि परभावो से अपने को पृथक करने वाले भेदज्ञान की धारा से भिन्न करने योग्य है। ऐसा विचार करना योग्य है कि "मैं पुद्गलरूप नही हूँ ये परभाव हैं, मैं इनका कर्त्ता, भोक्ता और ग्राहक भी नही हूँ। मैं तो अपने असख्य प्रदेशो से तादात्म्य भाव भूत अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों से पूर्ण हूँ। स्व-गुणों का कर्त्ता भी और भोक्ता भी स्वगुणो का हूँ। स्वगुणो का ही पात्र हूँ। रागादि सयोगज भाव मेरे नही है, न मैं सयोग का कर्त्ता हूँ' इस प्रकार स्वपर को विवक्त करने वाला आत्मा स्वगुणो के आविर्भाव के कार्य का कर्त्ता है,, अपने ही गुणो को स्वरूप का अनुगत करने की सामर्थ्य यहाँ प्रकाशित होती है। आत्मा स्वय दाता और स्वयं ही लाभरूप है, स्वय ही भोक्ता और स्वय ही भोग्य रूप है ऐसा निश्चय करके अपना आत्मा स्वाभाविक सहज आत्यन्तिक ऐकान्तिक बिना किसी प्रयास या आयास के स्वसम्पत् विलासीरूप से साध्य है। अनादि कालीन ससार नाटक का ध्वंसन,* सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के अभ्यास से करना है। तथा पूर्णानन्द अव्याबाध सुख को सिद्धि करनी है, अथच अजीव पुद्गल जड़ से जीव को पृथक् करना है ऊपर बताई युक्तियों से सिद्ध हो गया कि जीव, अजीव से भिन्न है।

[श्लोकः मन्दाक्रान्ता वृत्तम्]

इत्थ ज्ञानक्रकच कलना भेद भेदेनभित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविभजन स्वान्य भेद च कृत्वा।

---

* नाश

लोकालाक सकलमपि विदन् व्यक्त चिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ द्रव्य स्वयमतितरातावदुच्चैश्वकासे ॥४॥

इस प्रकार ज्ञानरूपी कवच-शस्त्र विशेष के प्रयोग से, आत्मा व जड़ का भेद करके जीव अजीव का स्पष्ट रूप से पृथक्त्व करने से स्वपर का भेद करके समस्त लोकालोक को जानता हुआ अभिव्यक्त चिन्मात्र शक्ति से ज्ञानाद्रव्य स्वय आत्मा उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

'इति जीवाजीव विभजन रूपो द्वितीयोऽधिकार,,

— ——

❀ अथ तृतीयोऽधिकार ❀

अब पुण्य पाप से भी यह आत्मा भिन्न ही है, इसका निरूपण करते हैं —

पुन्नमवि कम्म 'पुग्गलखघभूय तहेव पाव च।
हेऊ परिणामेण वित्रागभेय विणिछिद्र ॥१॥

व्याख्या —पुण्य शुभ विपाक है, तथापि है तो कर्मपुद्गलस्कन्ध भूत ही, और पाप भी कर्मपुद्गलस्कन्ध भूत ही है। मिथ्यात्वादि हेतु परिणामो का जो शुभाशुभ है, उन्ही का यह व्यापार है अत त्रिपाक भेद है, किन्तु ये आत्म धर्म स्वरूप नही, और कर्मप्रकृति रूप होने से पुण्य पाप दोनो का क्षय होने पर ही मोक्ष होता है। त्रिशेपावश्यक मे कहा है —

"पुण्णफल दुक्ख चिअ, कम्मोदयओ फलेव पावस्स।

अर्थ —कर्मोदय से होने वाले पाप के फल के समान ही पुण्य फल भी दुख है।

"सायासाय दुक्ख तव्विरहम्मि अ सुहोते।
ते देहिदिणसु दुक्ख सुक्ख देहिंदिया भावो ॥२॥

साता असाता दोनो ही दुख रूप है। इनके-साता असाता वेदनीय के न रहने पर सुख है। वे सुख दुख में हते हैं, देहेन्द्रिय के भाव है।

इस प्रकार पुण्य भी आत्मधर्म नही है। तथा उत्तराध्ययन मे भी यही कहा गया है —

दुविह खवेऊण य पुन्न पावं,
निरंगणी सव्व उ विप्पमुक्को।
तरित्ता समुद्द च महाभवोह,
समुद्दपाले अपुणगम गइ गए त्तिबेमि ॥

अर्थ —पुण्य और पाप दोनो को क्षय करके, निरंग-शरीर रहित आत्मा सर्व से अत्यन्तमुक्त आत्मा, महभव-ससार रूप समुद्र को पार करके अपुनरागम रूप गति से ससुद्र-भव समुद्र के तीर पर, अर्थात् मुक्ति मे चला गया है। ऐसा कहता हूँ।

जे तो चिअ पच्चक्ख सोमम सुह नत्थि दुक्खमेवेद।
तप्पडियार विभत्त नो पुणण फलति दुक्खति सठाणा ॥३॥

अर्थ —जो प्रत्यक्ष सुख रूप दिखता है, वह सुख नही, प्रत्युत दुख ही है। उसका प्रतिकार ऐसे होता है कि यह पुण्यफल होने पर भी दु:ख दाता ही है क्योकि पुण्यफल भोगने का विपाक भी दुख रूप ही भोगना पड़ता है। पुण्य के निम्नलिखित बयालीस भेद है —

योगस्थान भी आत्मा के नही है, काय, वाड् मनोयोग रूप वीर्य-शक्ति विशेष से अविभागी चल वीर्य लक्षण भाव योग स्थान हैं। और काय वाड्, मनोवर्गणा रूप द्रव्य योग है, अत आत्म स्वरूप नही हो सकते ।

वन्ध स्थान भी आत्मा के नही है। प्रतिविशिष्ट प्रकृति परिणाम लक्षण जो वन्ध स्थान है, वे भी सर्व विभावजन्य हैं, अत आत्मा के नही हो सकते। और जो स्वफल देने मे समर्थ कर्म अवस्था लक्षण रूप उदयस्थान हैं; वे भी सव जीव के नही है।

गति आदि चवदह मार्गणा :—१ गति २ इन्द्रिय ३. काय ४ योग ५. वेद ६ कषाय ७. ज्ञान ८ सयम ९ दर्शन १०. लेश्मा ११. भव्यत्व १२ सम्यक्त्व १३ सज्ञित्व १४ आहारकत्व। ये भी आत्म-रूप न होने से आत्मा के नही है।

इसी प्रकार स्थिति बन्ध स्थान, स्थिति स्थान, सक्लेशस्थान, विशुद्धि स्थान, सयम स्थान, लब्धि स्थान, जीव स्थान और गुण स्थान आदि जो मिश्र (जीव पुद्‌गल के योग से होने वाले) भाव है, वे सव पुद्‌गल जनित और पुद्‌गल सयोग जनित है अतः मिथ्यात्वादि चवदह गुण स्थान भी साधक अवस्था रूप होने से उत्सर्ग स्वरूपोपादान से आत्म स्वरूप नही है।

इस प्रकार इन सर्व से भिन्न, चिदानन्द रूप सम्यग् ज्ञान दर्शन अव्यावाधादि अनन्त धर्मात्मक, नित्यादि अनन्त स्वभावमय आत्मा है। रागादि सभी विभाव है वे जीव के नही हैं। इन परभावो और पर सयोगजन्य भावो से आत्मा पृथक् हो है। यहाँ इतनाध्यान रखना है, कि व्यवहारनय वास्तव मे अशुद्ध पर्यायाश्रित होने से "जीव के पुद्गल

सयोग वश से अनादिबन्ध पर्याय का उदय है और पर्याय, कुसुम्भ (कसूम्बा) से रगे हुये सूती वस्त्र के समान हैं, औपाधिक भाव का का अवलम्बन लेकर जीव परभाव को अपना भाव समझ कर करता है, व्यवहार नय से ऐसा मानता है। निश्चय नय तो शुद्ध द्रव्य पर्यायाश्रित होने से केवल जीव के स्वाभाविक भाव को अवलम्व कर चलता है और समस्त पर भाव का निषेध करता है। अतः वर्णादि तथा गुण स्थानादि अनन्त भाव जो जीव के व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं, वे निश्चय नय को अपेक्षा से जीव के नही होते, ऐसी प्रज्ञापना करना युक्तियुक्त है।

अब यहाँ यह शका होती है कि वर्णादि भाव जीव के निश्चय नय से है ही नही, तो ससारी जीव के यह सब कैसे दिखते हैं ? इसका समाधान यो है —

ए एहिय सवधी जहेव स्वीरोदय मुणेयव्वो ।
णय होति तस्स ताणिओ उवओग गुणाहि ओ जम्हा ॥१७॥

व्याख्या —जैसे पानी मिले हुये दुग्ध का जल के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी स्व लक्षण क्षीरत्व व्याप्य होने से व जल से अधिक रूप से प्रतीत होने से दुग्ध जल नही है। और जल दुग्ध नही है। तथा जल और दुग्ध मे उष्णता अग्नि के सम्पर्क से होती है, वह भी जल या दुग्ध का स्वभाव नही , क्योकि अग्नि व जल का तादात्म्य सवन्ध नही है। उसी प्रकार वर्णादि पुद्गल द्रव्य परिणाममिश्रित, आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहन लक्षण सम्बन्ध होने पर भी आत्मा का स्वलक्षण तो उपयोग गुण व्यापतया सर्व पर द्रव्यो से अधिकता रूप प्रतीत हो रहा है , अत पुद्गल व आत्मा का सम्बन्ध क्षीर नीरवत् या जल उष्णता रूप है। जल का द्रवत्व और अग्नि का

उष्णत्व जो गुण है, इसके कारण क्षीर नीर का व जल उष्णता का तादात्म्य लक्षण सम्वन्ध प्रतीत होता है; पर इनका सम्वन्ध तादात्म्य नही है; क्योकि क्षीर से नीर पृथक किया जा सकता है। जल का सम्पर्क अग्नि से हटने पर वह शीतल हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा के भी जो वर्णादि विविध भाव प्रतीत होते हैं, वे निश्चय से आत्मा के स्वरूप या भाव नही है। अत आत्मा सर्व परभावो से वास्तव मे भिन्न है और वही उपादेय है। इसी को विशेष रूप से परिपुष्ट करने के लिये कहते है—

तत्थ भवे जीवाणा ससारत्थाण होंति वण्णाई।
ससार पमुक्काण णत्थि हु वण्णादओ कोई ॥१८॥

व्याख्या —जो सभी अवस्थाओ मे तादात्म्य रूप से व्याप्त होता है, तादात्मकत्व व्याप्ति शून्य नही होता और तव उसका उसके साथ तादात्म्य लक्षण सम्वन्ध कहलाता है। अर्थात् उसी को तादात्म्य लक्षण सम्वन्ध कहते है।

सासारिक सभी अवस्थाओ मे वर्णादि व्याप्त जीव का वर्णादि की व्याप्ति से शून्य हो जाने पर शुद्ध रूप होता है।

"वही तादात्म्य सम्वन्ध है। जो सव अवस्थाओ मे रहे" यद्यपि जीव का ससार अवस्था मे वर्णादि के साथ एकत्व है फिर भी, वह सिद्धावस्था मे वह सर्वथा वर्णादि से विमुक्त हो जाता है। अतः वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य सम्वन्ध नही है। कई लोग वर्णादि भाव पुद्‌गल द्रव्य का अनुगमन करते हुये, पुद्‌गल के वर्णादि के साथ तादात्म्य विशेप रूप से प्रकट करते हैं, वैसे ही ये वर्णादि भाव क्रमश. जीव का अनुगमन करते हुये रहते हैं अत जीव का वर्णादि के साथ भी तादात्म्य

है" । इस प्रकार का अभिनिवेश रखने वाले है। उनके मत में असाधारण वर्णादि आत्मक पुद्‌गल लक्षण, पुद्‌गल द्रव्य का जीव के साथ स्वीकार करने से जीव और पुद्‌गल की अविशेष प्रसक्ति (मिलन) होने पर भिन्न जीव का अभाव हो जाता है। और तब आत्मा का भी अभाव हो जाता है। वास्तव मे ससारी जीव का पुद्‌गल के साथ संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नही । इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि वर्णादि भाव जीव नही है, और रागादि भाव भी जीव के स्वभाव नही है किन्तु चारित्र मोहनीय के विपाक से उत्पन्न अव्रत रूप हैं। तथा क्षमामार्दवादि धर्मवान् आत्मा भी इस चारित्र मोहनीय के उदय से कलुषीकृत आत्मा होते है । अर्थात आत्मा को मलीन बनाते हैं। और कलुषीकृत चेतना मय हेतुमद् क्षयोपषाम भाव वाले आत्मा के रागादिभाव होते हैं, वे हेतु मद् भाव से उत्पन्न होने के कारण व्युत्पत्ति लक्षण सयोग सम्बन्ध से ही हैं क्योंकि विभावो का तादात्म्य लक्षण सम्वन्ध नही है। इस प्रकार जो भाव, कर्म निमित्त से होते है, वे जीव के स्वभार्व-स्वधर्म नही। और ऐसे ही साधक अवस्था मे होने वाले धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान आयुजीकरण आदि जो सिद्धत्व रूप कार्य का निष्पादन करने के लिये आत्मा के द्वारा किये जाते हैं और आत्मागुण एकत्व भाव हैं, वे भी सिद्धत्व अवस्था मे प्राप्त न होने से ज्ञानादि गुणवान् आत्मा के स्वधर्म नही हैं, क्योकि वे साधक अवस्था मे ही उपलब्ध होते है। पूर्ण अखण्ड सिद्धावस्था मे नही मिलने वाले वे भाव, स्वरूप नही है। स्वरूप की उत्पत्ति मे सहायक रूप मात्र हैं। इस प्रकार इन समस्त और इस प्रकार के भावो से भिन्न, शुद्ध आनन्द लक्षण आत्मा ही श्रद्धेय-अर्थात् श्रद्धा करने योग्य है।

— ‐‐ात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है। इस जिज्ञासा की

शान्ति हेतु कहते है —

अनाद्यनन्तमचल स्वसवेद्य सदा शुचि ।
निष्कलङ्क मसयुक्त स्वरूपस्थमजमृजु ॥१॥
सज्ज्ञान दर्शनानन्द-रूप चारित्रलक्षणम् ।
अमूर्त्तं पूर्णविज्ञान स्वसत्ताभाववेदकम् ॥२॥

अर्थ —आत्मा अनादि, अनन्त, अचल, स्वसंवेद्य अर्थात् स्व के जानने योग्य, सदा पवित्र, निष्कबल, किसी के साथ सयुक्त नही है । स्वरूप मे रहा हुआ, अजन्मा और ऋजु सरल है । ॥१॥

सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और स्व आनन्द रूप चारित्र लक्षण वाला है, अमूर्त, पूर्ण विज्ञानी तथा स्वसत्ता भाव का अनुभव करने वाला है ।

अनादि परभाव-जड के ससर्ग से समुद्भूत विपर्यय व्यामोह आदि दोष समूह के सन्निपात से एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदि रूप से भव नाटक करता हुआ यह न नर है, न नाटक इसका रूप है । यह शुद्ध चिदानन्द स्वभाव वाला होते हुये भी ज्ञानावरणीयादि कर्मों के विपाक से आवृत्त ज्ञानादि गुणके उपकरण रूप से प्रवृत्त होता हुआ, स्वीय धर्म कर्त्तृत्वादि शक्ति वाला होने परभी पुद्गल भोग, ग्रहण, अनुयायी, कर्त्ता रूप से परभाव करता हुआ, द्रव्यकर्म नोकर्म करने से तद् भोग्य भोगी भूत जानता है और परभाव की एकता से दु ख को भी सुखबुद्धि से भोगता हुआ, पुन पुन. उसी परभाव को करता है, तथापि न वह आत्मा परभाव का कर्त्ता है न भोक्ता जैसे नीचे का उदाहरण है — रज पर्व (धूलण्डी) क्रीड़ा मे लीन असंयमी पुरुष असत् पुरुषो द्वारा धूल से भराजाने,असत् कलक दिये जाने, असभ्य अश्लील शब्दो द्वारा उपहास किये जाने पर भी जैसे प्रसन्न होता है । वैसे ही जो जीव मोहग्रस्त है,

वह कर्मादि परभाव का कर्त्ता भोक्ता असद् भावो के द्वारा कहा जाने पर भी वर्तमान अवस्था मे ही अज्ञानवश मग्न रहता है। अतएव तीर्थङ्कर प्रणीत आगम श्रवणादि द्वारा आत्मा की यथार्थ श्रद्धायुक्त हो स्वपर का अवभासन (ज्ञान) कराने वाले ज्ञान द्वारा पुद्गलादि परभावों से अपने को पृथक करने वाले भेदज्ञान की धारा से भिन्न करने योग्य है। ऐसा विचार करना योग्य है कि "मैं पुद्गलरूप नही हूँ ये परभाव हैं, मैं इनका कर्त्ता, भोक्ता और ग्राहक भी नही हूँ। मैं तो अपने असख्य प्रदेशो से तादात्म्य भाव भूत अपने ज्ञानदर्शनादि गुणों से पूर्ण हूँ। स्वगुणो का कर्त्ता भी और भोक्ता भी स्वगुणो का हूँ। स्वगुणो का ही पात्र हूँ। रागादि सयोगज भाव मेरे नही है, न मैं सयोग का कर्त्ता हूँ' इस प्रकार स्वपर को विवक्त करने वाला आत्मा स्वगुणो के आविर्भाव के कार्य का कर्त्ता है,, अपने ही गुणो को स्वरूप का अनुगत करने की सामर्थ्य यहाँ प्रकाशित होती है। आत्मा स्वय दाता और स्वयं ही लाभरूप है, स्वय ही भोक्ता और स्वय ही भोग्य रूप है ऐसा निश्चय करके अपना आत्मा स्वाभाविक सहज आत्यन्तिक ऐकान्तिक विना किसी प्रयास या आयास के स्वसम्पत् विलासीरूप से साध्य है। अनादि कालीन ससार नाटक का ध्वसेन,* सम्यक्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के अभ्यास से करना है। तथा पूर्णानन्द अव्याबाध सुख की सिद्धि करनी है, अथच अजीव पुद्गल जड से जीव को पृथक् करना है ऊपर बताई युक्तियो से सिद्ध हो गया कि जीव, अजीव से भिन्न है।

[श्लोकः मन्दाक्रान्ता वृत्तम्]

इत्थ ज्ञानक्रकच कलना भेद भेदेनभित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविभजन स्वान्य भेद च कृत्वा।

---

* नाश

'लोकालोक सकलमपि विदन् व्यक्त चिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृ द्रव्य स्वयमतितरातावदुच्चैश्वकासे ॥४॥

इस प्रकार ज्ञानरूपो ऋवच-शस्त्र विशेष के प्रयोग से, आत्मा व जड़ का भेद करके जीव अजीव का स्पष्ट रूप से पृथक्त्व करने से स्वपर का भेद करके समस्त लोकालोक को जानता हुआ अभिव्यक्त चिन्मात्र शक्ति से ज्ञानाद्रव्य स्वय आत्मा उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

' इति जीवाजीव विभजन रूपो द्वितीयोऽधिकार ,,

— ——

❀ अथ तृतीयोऽधिकार ❀

अव पुण्य पाप से भी यह आत्मा भिन्न हो है, इसका निरूपण करते हैं —

पुन्नमवि कम्म पुग्गलखधभूय तहेव पाव च ।
हेऊ परिणामेण विवागभेय विणिद्दिद्र ॥१॥

व्याख्या —पुण्य शुभ विपाक है, तथापि है तो कर्मपुद्गलस्कन्ध भूत ही, और पाप भी कर्मपुद्गलस्कन्ध भूत ही है। मिथ्यात्वादि हेतु परिणामो का जो शुभाशुभ है, उन्ही का यह व्यापार है अत विपाक भेद है, किन्तु ये आत्म धर्म स्वरूप नही, और कर्मप्रकृति रूप होने से पुण्य पाप दोंनो का क्षय होने पर ही मोक्ष होता है। विशेपावश्यक मे कहा है —

"पुण्णफल दुक्ख चिअ, कम्मोदयओ फलेव पावस्स ।

अर्थ —कर्मोदय से होने वाले पाप के फल के समान ही पुण्य फल भी दुख है।

"सायासाय दुक्ख तव्विरहम्मि अ सुहोते।
ते देहिंदिणसु दुक्ख सुक्ख देहिंदिया भावो ।।२।।

साता असाता दोनो ही दुख रूप हैं। इनके-साता असाता वेदनीय के न रहने पर सुख है। वे सुख दुख मे हते हैं, देहेन्द्रिय के भाव हैं।

इस प्रकार पुण्य भी आत्मधर्म नही है। तथा उत्तराध्ययन मे भी यही कहा गया है—

दुविह खवेऊण य पुन्न पाव,
निरंगणी सव्व उ विप्पमुक्को।
तरित्ता समुद्द च महाभवोह,
समुद्दपाले अपुणगम गइ गए त्तिवेमि ।।

अर्थ—पुण्य और पाप दोनो को क्षय करके, निरग-शरीर रहित आत्मा सर्व से अत्यन्तमुक्त आत्मा, महभव-ससार रूप समुद्र को पार करके अपुनरागम रूप गति से ससुद्र-भव समुद्र के नीर पर, अर्थात् मुक्ति में चला गया है। ऐसा कहता हूँ।

जे तो चिअ पच्चक्खं सोमम सुह नत्थि दुक्खमेवेद।
तप्पडियार विभत्त नो पुण्ण फलति दुक्खति सठाणा ।।३।।

अर्थ—जो प्रत्यक्ष सुख रूप दिखता है, वह सुख नही, प्रत्युत दुख ही है। उसका प्रतिकार ऐसे होता है कि यह पुण्यफल होने पर भी दुख दाता ही है क्योकि पुण्यफल भोगने का विपाक भी दुख रूप ही भोगना पड़ता है। पुण्य के निम्नलिखित बयालीस भेद है—

सा उच्चगोअ मणुदुग, सुरदुग पंचिदिय जाइ पण देहा ।
आइ ति तणू णुवगा, आइम संघयण संठाणा ।। १५ ।।
वण्ण च उक्का गुरुलहु, परघा ऊसास आयवुज्जोय ।
सुभखगइ निमिण तस दस, सुर नर तिरियाउ तित्थयर।।१६।।
तस बायर पज्जत्त, पत्तेय थिर सुभ च सुभग च ।
सुस्सर आइज्ज जस, तसाइ दसग इम होइ ।। १७ ।।

(नवतत्व प्रकरण)

अर्थ—१ शाता वेदनीय २ उच्चगोत्र ३ मनुष्यगति ४ मनुष्यानुपूर्वी ५ देवगति ६ देवानुपूर्वी ७ पचेन्द्रियजाति ८ पाँच शरीर- ९ औदारिक १० वैक्रयिक ११ आहारक १२ तैजस १३ कार्मण । तीन अंगोपांग :—१३ औदारिक अंगोपांग १४ वैक्रयिक अंगोपांग १५ आहारक अंगोपांग १६ वज्रर्ष भनाराच संघयण १७ समचतुरस्त्र संस्थान शुभ वर्ण चतुष्क-१८ वर्ण १९ गन्ध २० रस २१ स्पर्श, २२ अगुरुलघु नाम कर्म २३ पराघात २४ श्वासोच्छ्वास २५ आतप २६ उद्योत २७ शुभ विहायोगति २८ निर्माण । त्रस २९ त्रस दशक ३० बादर ३१ पर्याप्त ३२ प्रत्येक ३३ स्थिर ३४ शुभ ३५ सुभग ३६ सुस्वर ३७ आदेय ३८ यशः ३९ कीर्ति ४० देवायु ४१ मनुष्यायु ४२ तिर्यगायु ४३ तीर्थङ्कर नाम कर्म । ये पुण्य प्रकृतियां हैं ।

पापतत्व की ८२ प्रकृतियां इस प्रकार हैं :—

नाणंतराय दसगं, नव बीये नीयऽसाय मिच्छत्तं ।
थावरदस निरय तिग कसाय पणवीस तिरिय दुग ।।१८।।

इग वि ति चउ जाइओ, कुखगइ उवघाय हुंति पावस्स ।
अपसत्थ वण्ण चउ, अपढम सघयण सठाणा ॥ १६ ॥

अर्थ .—ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच-१ मति ज्ञानावरणीय २ श्रुतज्ञानावरणीय ३ अवधि ज्ञानावरणीय ४ मनः पर्याय ज्ञानावरणीय ५ केवल ज्ञानावरणीय । पाच अन्तराय को-६ दानान्तराय ७ लाभान्तराय ८ भोगान्तराय ९ उपभोगान्तराय १० वीर्यान्तराय । दर्शनावरणीय की नव – ११ चक्षुदर्शनावरणीय १२ अचक्षुदर्शनावरणीय १३ अवधि दर्शनावरणीय १४ केवल दर्शनावरणीय १५ निद्रा १६ निद्रानिद्रा १७ प्रचला १८ प्रचला प्रचला १९ स्त्यानर्द्धि २० नीच गोत्र २१ अशातावेदनीय २२ मिथ्यात्व मोहनीय । स्थावर दशक — २३ स्थावर २४ सूक्ष्म २५ अपर्याप्त २६ साधारण २७ अस्थिर २८ अशुभ २९ दौर्भाग्य ३० दुस्वर ३१ अनादेय ३२ अयश कीर्ति ३३ नरकगति ३४ नरकानुपूर्वी ३५ नरकायु । ३६ अनन्तानुबन्धी क्रोध ३७ अ० मान ३८ अ० माया ३९ अ० लोभ ४० अप्रत्याख्यानो क्रोध ४१ अप्र० मान ४२ अप्र० माया ४३ अप्र० लोभ ४४ प्रत्याखानो क्रोध ४५ प्रत्या० मान ४६ प्रत्या० माया ४७ प्रत्या० लोभ ४८ संज्वलन क्रोध ४९ स० मान ५० से० माया ५१ स० लोभ । ५२ हास्य ५३ रति ५४ अरति ५५ भय ५६ शोक ५७ जुगुप्सा ५८ स्त्रीवेद ५९ पुरुषवेद ६० नपु सकवेद ६१ तिर्यग्गति ६२ तिर्यगानुपूर्वी । ६३ एकेन्द्रिय जाति ६४ द्वीन्द्रिय ६५ त्रीन्द्रिय जाति ६६ चतुरिन्द्रिय जाति ६७ अशुभ विहायोगति ६८ उपघात नाम कर्म ६९ अशुभवर्ण ७० अशुभगन्ध ७१ अशुभ रस ७२ अशुभ स्पर्श ७३ ऋषभनाराच सघयण ७४ नाराच सघयण ७५ अर्द्ध नाराच सघयण ७६ कीलिका सघयण ७७ सेवार्त्त सघयण ७८ न्यग्रोध परिमण्डल सस्थान ७९ सादि

सस्थान ८० वामन सस्थान ८१ कुब्ज सस्थान ८२ हुण्डक सस्थान।
अत पुण्य पाप दोनो ही कर्म रूप हैं। सुख व दुःख रूप भोगे जाते है।
यही कहते हैं :—

कम्ममसुह दुहद, सुहकम्म भुंजराइ सुहरूव।
तहवि कह सुहम्व, ज ससार पवड्ढेइ ।४॥

व्याख्या :—जीव के मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योगो की जो शुभाशुभ भाव रूप परिणति होती हैं, उन्हीके द्वारा स्वक्षेत्रगत कार्मणवर्गणा के ग्रहण से शुभाशुभ रागद्वेष कषाय स्थान की परिणति से-रसभेद परिणमन से पुण्य पाप प्रकृतियो का वन्ध होता है। यह सब आत्मा का स्वरूप नही है। हेतु परिणत जीव के द्वारा जो कर्म अशुभ ज्ञानावरणीयादि रूप से किये जाते हैं, वे दु खदायक और शुभ-शाता-वेदनीयादि वाँधे जाते हैं, वे भोगते समय सुख रूप लगते हैं। यथार्थ मे अवलोकन करने पर पुण्य कर्म कैसे सुख रूप माना जाय? जो एकान्त रूप से असार है। भोगते हुए ससार की प्रकर्षरूप से वृद्धि करने वाला कहा गया है। वह पुण्य मेरा अर्थात आत्मा का स्वरूप नही हैं।

उसी को उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझाते हैं :—

किसी चाडालिनी के दो पुत्र हुये, जन्मते ही एक पुत्र को सदाचारी ब्राह्मण ले गया, दूसरा अपने ही घर रहा। विप्र के पास वह बालक स्नान दान अध्ययनादि कार्य करता हुआ उत्तम आचारवान् बन गया और जो चाडाल के घर रहा वह मांस मदिरादि का सेवन आदि चांडाल कार्य करने लगा। एक ही माता की कुक्षि से

उत्पन्न होने पर और समानकुल सदृशमुद्गल निर्मित होने पर भी दोनो ही निमित्तभेद से और आचार भेद से विभिन्न अवस्थाओ-स्थितियो वाले बने । इसी प्रकार पुण्य पाप भी पुद्गल स्कन्धो से निष्पन्न,मोह के हेतु, आत्मगुणो को आवृत करने के विपाक मे तुल्य है। तथापि भोगते समय आस्वाद भेद से भिन्न अनुभव होने से, पुण्य और पाप रूप मे प्रसिद्ध है, तथापि विपाक भेद होने पर सम्यग्दृष्टि जीवो के स्वगुणो को रोकने रूप अविपाक स्वरूप होने से तुल्यता का भास नही होता । अत "वेश भेद से कुल भेद" इस न्याय से पुण्य व पाप का क्षेत्रावगाहित्व होने पर भी वे आत्मा के नही; पर ही हैं, ऐसा तीर्थङ्कर देवो ने कहा है । शुभाशुभ परिणाम का निमित्तत्व होने से कारण भेद है । शुभाशुभ पुद्गलो मे परिणत होने से स्वभाव भेद है । और शुभाशुभ फल का पाक होने से अनुभूति भेद है । एक ही कर्म कुछ शुभ और कुछ अशुभ है । ऐसा भी कितने ही लोको का जो मत है, वह तो प्रतिपक्ष है । तथापि शुभ, अशुभ तो जीविका का परिणाम है । केवल पुद्गल मय होने से एकत्व होने पर स्वभाव भेद से एक कर्म शुभ या अशुभ फल पाक वाला है वह जीव का परिणाम है। भेदत ही केवल पुद्गलमय होने से एक देह में एकत्व होने व अनुभव भी होने से दोनो—पुण्य पाप एक ही कर्म के दो रूप है ।

अब दोनो की विपाक भिन्नता दिखलाते है —

सोवण्णमय पि नियला रोहेयइ कालसंपि गुण भाव ।
तह रोहइ सत्ति सुहा सुह कम्म भुंज्जत ॥ ५ ॥

व्याख्या —जैसे सोने की वेड़ी चलना आदि प्राणी की शक्ति रोकती है वैसे लोहे की वेड़ी भी रोकने रूप धर्म दोनोका समान ही

है। वैसे ही कर्मोदय से प्राप्त पुण्य भी अव्याबाध आदि आत्म गुणो का रोधक है। कर्मोदय से प्राप्त पाप भी आत्मगुणों का अवरोध करता है। आत्मगुण अवरोधक रूप कार्य दोनो का तुल्य होने से दोनो ही पुण्य और पाप कर्म हैं। यद्यपि पुद्‌गल स्वतः जीव के गुणों को नही समझता पर जीव द्वारा गृहीत पुद्‌गल ही आत्मा के गुणों को आवृत करने वाले हो जाते हैं। स्वय जीव स्वगुणरोधक स्वभाव वाला नही है, परन्तु कुशील ससर्ग से ऐसा होता है। अत कुशील का आचरण और राग का ससर्ग मत करो, आत्म गुणो का नाश कुशील व राग से ही होता है। इसी को स्पष्ट करते हैं :—

रत्तो बधइ कम्म मुच्चइ जीवो विराय सपन्नो।
एसो जिणोवएसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ ४ ॥

व्याख्या —"जो रागी है वह अवश्य ही कर्म बाधता है और विरागी ही मुक्त होता है" ऐसा जिनेश्वर देवों का उपदेश है। अतः पुद्‌गलादि मे राग रखना अज्ञान है। सर्व पर-भावों में विरक्तता करनी चाहिये। अपने ज्ञान दर्शन चारित्रादि धर्मों को सम्यक प्रकार से ग्रहण करने वाला आत्मा ही सर्व दोषो से मुक्त होता है। अतः तत्वज्ञ जन आत्मतत्व में रत और सर्व पर भावों से विरत ही रहते हैं।

अब "सम्यग्ज्ञान मोक्ष का हेतु है" यह बताते हैं :—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जे केवली मुणी णाणी।
तम्मि (म्हि) ट्ठिया सहावे मुणिणो पावंति निव्वाणं ॥६॥

व्याख्या —मुख्यरूप से आत्मा के दो गुण हैं:—१ ज्ञान, दर्शन। जैसा कि भगवती सूत्र में :—"गुणओ उवओग गुणे" गुण से आत्मा के उपयोग—ज्ञान और दर्शन गुण है। ऐसा पाठ है।

औपपाति सूत्र में भी—"असरीरा जीव घरगा उवउत्ता दसणे अणाणेय। सागार मनागारं लक्खणमेयं तु सिद्धाणं ॥११॥

वे सिद्ध अशरीरी हैं मात्र जीव स्वरूप होने से जिनके प्रदेश घन रूप हैं, ज्ञान और दर्शन में जिनका सदा उपयोग लगा रहता है, वह उपयोग साकार व अनाकार भेद से दो प्रकार है पर दोनो साथ ही रहते हैं। यही सिद्धो का —शुद्ध आत्माओ का लक्षण है। ॥ ११ ॥

ग्यारहवें गणधरवाद में भी कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व सिद्धावस्था मे होते हैं और कोई तो दानादि पचक और चारित्र सिद्धों के भी मानते हैं।

और तत्वार्थकार से यथार्थ मे आशिक मति भेद है, कि वे सम्यक्त्व भी वहाँ सिद्धावस्था में स्वीकार करते है। मुख्यरूप से तो दो गुण ही आत्मा के माने गये हैं। उनके अभिप्राय मे आत्मा का वास्तविक स्वरूप ज्ञान ही है। उनकी क्रिया ज्ञान की ही प्रवृत्ति है। वह कारणावस्था मे होती है, अतएव कहते हैं :—ज्ञान ही मोक्ष हेतु है। शुभाशुभ कर्म बन्ध की हेतु होने से अज्ञान अवस्था में की गई क्रिया, मोक्ष की हेतु नही है। वही ज्ञानमय आत्मा, जो भाव कर्म, द्रव्य कर्म नो कर्म से भिन्न चिदानन्द मय, परमार्थमय, और वास्तविक परमार्थ है। इसे ग्रन्थकार ने यो कहा है कि समय अर्थात् स्वभाव ही निश्चय से परमार्थ है। उस स्वभाव में स्थित मुनिजन ही निर्वाण प्राप्त करते हैं।

इस वाक्य से आत्मा के अपने असख्य प्रदेशो में व्याप्त व्यापक भाव से परिणत ज्ञान आनन्दादि स्वगुण ही स्वभाव रूप है। वह स्वसमय स्वभाव ही परमार्थ है। उस परमार्थ मे स्थिति अर्थात् स्वरूप स्वभाव मे जो रहना है, वही मोक्ष हेतु है स्वरूपालम्बन के विना परमार्थ शून्यजन जो जप तप व्रतादि अनुष्ठान करते हैं, वो सव वालतप ही हैं, और निर्वाण का साधन नही है। कल्प भाष्य मे कहा है —

"परमट्ठ मि नु अठ्ठिआ, जे नाण तव च धारिंति।
त सव्व बालतव वालवय विंति सव्वन्नू ॥ ११ ॥

अर्थः—परमार्थ मे नही रहे हुये जो ज्ञान-तप आदि धारण करते हैं उन सव को सर्व बालतप और बालव्रतज्ञ कहते हैं और विप गरलादि रूप से किये गये सभी अनुष्ठान ससारवृद्धि के लिये हैं। अतः परमार्थ रहित जो करना है, वह सव ससार का हेतु है।

आणाए तवो आणाए सयमो, तह य दाण माणाए।
आणा रहियो धम्मो, पलाल पूलव्व पडिहाई ॥ ६ ॥

अर्थ—आज्ञा से ही तप सयम और दान आदि धर्म, धर्म रूप है। तीर्थंकर की आज्ञा रहित धर्म कार्य, भूसे के पूले के समान त्यागने योग्य है।

आचारांग मे "आणाए मुणी नो आणाणाए" कहा है। अर्थात् आज्ञा मे प्रवृत्ति करने वाला मुनि है। अनाज्ञा मे रहने वाला नहीं। उसी आचाराग सूत्र के सम्यक्त्व नामक चतुर्थ अध्ययन के तृतीय उद्देश मे कहा है:—"आणा केखी पडिए अणिहे, एगमप्पाण सपेहए"।

अर्थ :—आणाकंखी— अर्थात् जो सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ठ अनुष्ठान करने की आकाक्षा वाला है, वह पण्डित—ज्ञानी है और वह अणिह—स्नेह रहित अर्थात् राग रहित है, उपलक्षण से रागद्वेष रहित है। एक आत्मा का ही सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करता है।

आत्म स्वरूप को प्रकट करने के रसिक ही निर्वाण के साधक हैं और जो पुद्गल सुख की अभिलाषा वाले जन है वे तपोनियमादि करते हुये भी निर्वाण के साधक नही हैं, ऐसा आचारग सूत्र का आशय है। अत. मोक्ष मार्ग कहते है।

जीवादिसद्दहण सम्मतं तेसिमधिगमो नाण।
रागादि परिहरण चरण एसो उ मुक्खपहो ॥८॥

व्याख्या :—वास्तव मे मोक्ष के हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। जीवादि पदार्थों का यथार्थ रूप से निर्द्धारण करना सम्यग्दर्शन है। जीवादि का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और रागादि के विरह पूर्वक ज्ञानादि प्रवर्तन सम्यक् चरित्र है। अथवा शुद्ध उपयोग का स्वरूप मे स्थिर रहना सम्यक् चारित्र है। दोनो प्रकार की व्याख्या में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र क्रमश· निर्द्धारण, भासन और रमण परिणामरूप चेतना के ही परिणमन हैं। जीवादि तत्वो के सत्यरूप से निर्द्धारण रूप ज्ञान है और इस तरह नवतत्व का भासन भी ज्ञान ही है। तथा रागादि रहित जो चेतना है, वह चारित्र भी ज्ञान है। यों रत्न-त्रयीरूप ज्ञान ही परिणत होता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इनको एक ज्ञानरूप होना ही सिद्ध होना निश्चित है, अत· परमार्थ से ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।

जैसे वस्त्र के श्वेत भाव को अन्य वर्ण का ससर्ग आच्छादित कर लेता है, वैसे ही पुण्य व पाप प्रकृतियाँ आत्म स्वरूप को आच्छादित कर लेती हैं। जीव का सम्यक्त्व गुण जो मोक्ष हेतु स्वभाव है, वह मिथ्यात्व नामक परभाव रूप कर्ममल से ढँका होने के कारण तिरोहित हो रहा है और जो यथार्थज्ञान मोक्ष हेतु है, वह भी परभाव रूप ज्ञानावरणीय नामक कर्ममल से आछन्न होने से लुप्त हो रहा है, तथा आत्मा का स्वरूपरमण मय मोक्ष का कारण चारित्रगुण है,वह भी चारित्र मोहरूप परभाव कर्ममल से अवच्छन्न (ढँका) होने से विलुप्त हो रहा है। अत पुद्गल स्कन्ध रूप कर्म परिणमन पुण्य पाप दोनो रूप हैं। ये दोनो ही आत्मा के अव्याबाध सुखादि को रोकने वाले है। अत अज्ञान ही कर्मबन्ध का मुख्य कारण है। उस अज्ञान को दूर करने के लिये सम्यग् ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि पूज्य हेमचन्द्राचार्य कहते हैं :—

"आत्माज्ञान भव दु खमात्मज्ञानेन हन्यते।
अभ्यस्यस्तत् तथा तेन येनात्मा, ज्ञानमयो भवेत्॥"
"स्वल्पज्ञानेन नो तृप्ति, याति दृप्तात्मना मन।
स्तोक वृष्ट्या यथा तप्ता भूमि रूष्मायते तराम्॥"

अर्थ :–आत्मा के अज्ञान से होने वाला दुःख आत्मा के ज्ञान से नष्ट किया जा सकता है। अत अभ्यास वैसा करना योग्य है जिससे आत्म ज्ञान हो।१। *दृप्त आत्माओ का मन थोडे ज्ञान से तृप्त नही होता। जैसे तप्त भूमि पर थोड़ी वृष्टि होने से भूमि अधिक ऊष्म हो जाती है, वैसे ही थोडे ज्ञान से आत्मा में पौद्गलिक सुख के लिये अभिलाषाएँ उत्पन्न होती है। अत. स्वगुण आवरण-भूत पुण्य प्रकृतियो की ईहा (इच्छा) से जो ज्ञान, तप, व्रतादि करना है, वह मोक्ष के लिये नहीं है, और इन्द्रिय

* म्थाभिमानी—महत्त्वाकाक्षी मुमुक्षु

सुख की इच्छा होने से संवर भी नही है। इसीलिये पुण्यपाप रूप कर्ममल के पूर्ण अभाव से ही मोक्ष है, तीर्थंकर नाम-कर्म रूप प्रकृति का वन्ध भी तीव्र संक्लेश-भावराग-भावदयारूप परिणामों से होता है; फिर भी वह परिणाम में शरीररागत्याग से संवररूप है और सम्यक्त्वीजीव के ही बंधता है किन्तु है तो पुण्य प्रकृति रूप ही पुण्याभिलाषी कर्म बँधक ही है। एव स्वात्म धर्म से जो अन्य है, 'वह मैं नही हूँ, मैं तो शुद्ध, बुद्ध केवलज्ञान दर्शनमय, अमूर्त्त, स्वात्मानन्द में रमण करने वाला, स्वरूप मे विश्राम पाने वाला और स्वरूप मे ही आसक्त हूँ, इस प्रकार की भावना संवर है और ऐसी भावना वाला वास्तविक संवरी है। अत स्व स्वरूप से अन्य जो है, वह मेरा नही है। "इस प्रकार के निर्द्धारण भासन और रमण मे परिणत ही सच्चा साधक है" यह स्थित-सिद्ध हुआ।

सातावेदनीयादि ४२ प्रकृतियो का न मैं कर्त्ता हूँ और न यह मेरा कार्य है। यह पुण्य तो अनादि काल से परभावमग्न और परभाव करणशील आत्मा के उत्पन्न होने वाले अशुद्ध परिणाम हैं; जो पुण्य वन्ध कराते है एव पाप भी है। वास्तव मे तो कर्म समूह का अभाव ही करने योग्य है। तत्वार्थ सूत्र मे कहा है :—

वन्धहेत्वाभाव निर्जराभ्याम् २ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष ३

अर्थात् वन्ध हेतुओ के अभाव रूप संवर और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।

अशुद्ध अध्यवसायो और पुद्गल वर्गणाओ से निष्पन्न कर्म-दलिको का आवारकत्व और परभाव रूप विपाक ही भेद से पुण्य पाप रूप है। तथा आत्मा के जो रागद्वेष हेतु-भूत सुख दुःख की प्राप्ति अप्राप्ति के समय हर्ष विषाद के परिणाम है, यही भ्रान्ति है। अत

पुण्य की आशंसादि दोष रहित आत्मा जिनाज्ञा में प्रवर्त्तन मोक्ष मार्ग है। कहा है कि —

एव सदैव परभाव विभाव मुक्त, शुद्ध स्वभाव रमणाद्भुततत्वचेता।
* जीव स्वधर्म भुक्ति स्वात्मनि जृम्भते य,
साध्य स एव मुनिभिर्जित राग द्वेषै.

अर्थ —इस प्रकार जो शुद्ध स्वभाव मे रमण करने वाला तत्व ज्ञानी है, सदैव परभाव व विभाव मुक्त बनाता है। और स्वधर्म भोगी का विलास करता है, वह रागद्वेष को जीतने वाले मुनियो द्वारा ही साध्य है।

इस प्रकार 'पुण्य पाप परभाव रूप है, इसका सिद्धत्व किया गया।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचितेऽध्यात्म प्रवोधेऽपरनाम
देशनासारे पुण्य पाप वर्णनोनाम तृतीयोऽधिकार.।
अथ निराश्रवात्मस्वरूपाभिधायक श्चतुर्थोऽधिकार:

अव आत्मा का शुद्धकर्तृत्व दिखलाते हुवे कहते है —

आया रग कम्म कत्ताण, णकम्मा आयभावं उपन्ना।
पुग्गल सग निमित्ता तच्चाए कह भवे कम्मा॥१॥

व्याख्या —वास्तव मे आत्मा न कर्मो का कर्त्ता है और न कर्म आत्मभावो से समुत्पन्न हैं; किन्तु पुद्गल सग निमित्त ने उत्पन्न है। जब तक आत्मा अपने स्वरूप का भान नही करता, तब तक परभाव पुद्गल-स्कन्धाश्रित शुभाशुभ वर्णादि के भोक्तृत्व रूप से और इनसे इतर आत्म भाव को अभोक्तृत्वरूप से मानता है। और इष्टानिष्ट परिणति से शुभवर्णादि के प्रति राग रखता हुआ और अशुभ के प्रति द्वेष करता हुआ रहता है, तब तक उन रागद्वेष परिणामों के जो

* श्लोक का तीसरा चरण अपूर्ण था, उसे पूर्ण किया है।

म्वक्षेत्र में व्यापक रूप से हैं, उन्होके द्वारा स्वक्षेत्रावगाढ कर्म-पुद्गलो का लोली भाव से सवव होता है। वे बंधे हुये कर्म वर्गण स्कन्ध ही कर्म कहलाते हैं। अतः अशुद्ध अध्यवसायानुगत योग वीर्यादि परिणाम आश्रव है। जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप व इन्द्रिय कषाय अव्रत योग क्रिया मद रूप आश्रव है। इससे आत्मा का 'आश्रव' स्वस्वरूप नही है, निमित्त रूप है। जब निमित्त का त्याग हो जाता है तो आत्मप्रदेशों मे कर्म का बन्ध कैसे हो सकता है? इससे यह सिद्ध हुआ कि आश्रवासक्त के कर्मबन्ध होता है। आश्रवरहित जीव के कर्मवन्ध नही होता। अत. ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध मे सम्बद्ध नही है, और न रागादि भावाश्रव भी आत्मसमवेत अर्थात् समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है। इससे आत्मा आश्रव वाला नही है और आश्रव आत्मा का धर्म नही, यह स्थित हुआ।

यहाँ यह आशय है, कि रागद्वेष मोहादि का आश्रव जीव के अज्ञान रूप परिणाम निमित्त से है। आत्मा मे चेतनत्व होने पर भी चिदाभास रूप मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग, जो पुद्गल के परिणाम हैं, वे ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों के आश्रवण [आने] के निश्चय से निमित्त हैं, और कर्मों के आने का निमित्तत्व अज्ञान मय आत्मा के परिणाम-रागद्वेष मोहादि हैं; अत [कर्म] आने के निमित्त होने से रागद्वेष मोहादि ही आश्रव हैं और वे अज्ञानी के होते हैं। यह अर्थ से ही सिद्ध है।

अब ज्ञानी के कर्मवन्ध नही होता यह स्पष्ट करते है -

णत्थि हु आसव बंधो, सम्मदिट्ठिस्स मिच्छ पच्चइओ।
मिच्छत्ताभावे पुण, अन्नाणमओ न बंधोत्ति ॥२॥

व्याख्या :—क्योकि सम्यग्-दृष्टि जीव के मिथ्यात्व प्रत्ययिक आश्रव व कर्मवन्ध नही होता। मिथ्यात्व के अभाव मे अज्ञान का भी

अभाव ही है। अत. सम्यग् दृष्टि जीव के अज्ञानप्रत्ययिक कर्मबन्ध भी नहीं है। क्योकि ज्ञानमय भावो से ज्ञानी के अज्ञानमय भावो का निरोध हो जाता है। ज्ञान अज्ञान परस्पर विरोधी हैं, अत. अज्ञानमय भावो के निरोध से आत्मा ज्ञानी होता है और ज्ञानी के आश्रव का निरोध हो जाता है। इस कारण से ज्ञानी अज्ञान के निमित्त से आने वाले कर्मों को नही बाधता। जहाँ ज्ञान परिणति है, वहाँ परकर्त्तृत्व का अभाव ही कहा है, क्योकि ज्ञान सवर का भेद है।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है —

सम्मदिठ्टी नाणी अ बंधइ सत्त अट्ठ कम्माइ।
तो नाणी नो बधइ इय वयण कहय सभवइ॥३॥

व्याख्या :—आगम मे सम्यग् दृष्टि को ज्ञानी कहा गया है और वह सम्यग् दृष्टि, चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुण स्थान तक सात आठ कर्मों का वन्ध करता है। यह भी आगम में कहा है। तव ज्ञानी अवन्धक कैसे कहा जाय ? इसका उत्तर देते हैं :—

इग कोडि कोडि उवरिं ठिइ रस वधो अ पगई इगु।
आल तेसि पएसो वधो मिच्छत्त पच्चइओ॥४॥
तस्स अ अवधगो सो ससारस्स य युग्गया न बुड्डित्ति।
एसिमवयरोण नाणीउ अवधगो भणिओ॥५॥

व्याख्या :—एक कोडा कोडी से ऊपर उन प्रकृतियो का रस वन्ध न होने तथा सोलह मिथ्यात्व प्रत्ययी प्रकृतियाँ और पच्चीस तिर्यग् कोटि की प्रकृतियाँ है, यो इकतालीस उत्तर प्रकृतियो का सम्यक्त्वी ज्ञानी बन्ध नही करता। इस कारण से ज्ञानी को अवन्धक कहा है, यद्यपि शेष सतत्तर [७७] प्रकृतियो का वधक होने पर भी

अनन्त पुद्गल-परावर्त रूप ससार का छेद कर देने पर और अर्द्ध-पुद्गल परावर्त्त जितना ससार वाकी रहने पर भी जिसको सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है, वह आत्मा वहुत वार अनेक प्रकृतियाँ वांधता हुआ भी और किसी समय विराधनादि दोषो की अधिकता होने पर भी अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्त से अधिक ससार भ्रमण नही करता; अत अभिनव ससार वृद्धि का अवन्धक होने से अवन्धक कहलाता है; क्योकि एक वार भी सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने वाला जीव अनन्त ससार के मूल को छेद देता है। इस कारण से अवन्धक कहा है।

पुनः स्पष्ट रूप से विचार करते है :—सूक्ष्मसम्प्रराय गुणस्थान के चरम समय मे सर्वजघन्य कषाय स्थान है, ऐसी आम्नाय है—परम्परा की मान्यता है और मिथ्यात्वादि गुणस्थानों मे कषाय की उत्कृष्टता तथा ऊपर के गुणस्थानो मे तरतमता (कमोवेशो) रहती है। इसमे क्या प्रमाण है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते है कि—सूक्ष्म सम्पराय गुण स्थान मे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयी की निर्मलता होने से चेतना वीर्यादि के अविभाग वाले, स्वरूप साधन का अनुगमन करने वाले जीव वहुत हैं और कषायानुगाढ जीव थोडे हैं। इसीसे सूक्ष्म-सम्प्रराय गुणस्थान जघन्य कषाय वाला जानना चाहिये।

मिथ्या-दृष्टि जीवो के सर्व प्रकार का क्षयोपशम कषायोदय युक्त ही होता है और सम्यग् दृष्टि जीवों के जितना क्षयोपशम होता है, उसमें मन तत्वरुचि, तत्वभासन और अर्हदादि के अवलम्वन पूर्वक प्रशस्त कषाय युक्त अवश्य है; परन्तु जितना क्षयोपशमादि स्वभाव वाला स्वभाव के सम्मुख है, उतना कषायोदय मे नहीं, अत. उसके वन्ध नही होता। और इसी कारण यथार्थ ज्ञानानुगत के वीर्यान्तरायादि का भी वन्ध नही होता। अत. सम्यग् दृष्टि ज्ञानी के अज्ञान प्रत्ययिक वन्ध नही होता है। ज्ञान जितनी देर अविभागरूप से स्वगुण या गुणी आदि मे

वर्तमान रहता है, तब तक कषायानुगत नही होता और वे सम्यग्-दृष्टि ज्ञानी साधनोद्यत रहते हैं, अत अभिनव कर्म नही बांधते है। इससे ज्ञानी के अज्ञान प्रत्ययिक और मिथ्यात्व प्रत्ययिक दोनो वन्ध नही है, क्योकि सर्वप्रदेशो मे सर्वथा अविभाग रूप से मिथ्यात्व का उदय नही है. अत मिथ्यात्व प्रत्ययिक वन्ध भी नही होता, यह जानना चाहिये।

यहाँ शिष्य से प्रश्न करवाते हैं कि—सम्यग्दृष्टि जीवो के अप्रत्याख्यानादि कपायोदय के सद्भाव मे, क्षयोपशम सम्यक्त्वादि मे क्या उनका—अप्रत्याख्यानादि कषाय का उदय नही हैं? यह बतलाइये?

यहाँ कहते है कि सर्व आत्म प्रदेशो मे मिथ्यात्व के विपाक का अभाव होने पर क्षयोपशमसम्यक्त्व रहता है और प्रदेश से मिथ्यात्व-दलिको का उदय है, पर वह नीरस होने से सम्यक्-श्रद्धा का [सम्यक्त्व] रोधक नही है। और सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय विपाक न है। मिथ्यात्व के ही जो पुद्गल सम्यक्त्व-मोहनीय के द्वारा लाये गये है, वे रस सहित है। शकादि अतिचारों के रूप मे उनका विपाक होता है। उपशम सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्वादि सप्त— 'मिथ्यात्व मोहनीय मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ" प्रकृतियो के विपाक और प्रदेश से उदय के अभाव के कारण निरतिचार श्रद्धा वाला होता है। सम्यक्त्व से गिरने वाला कालादि क्षय मे सत्तागत दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों के उदय से गिरता है। क्षायिक सम्यक्त्व वाला तो उपर्युक्त सात प्रकृतियो का सर्वथा क्षय हो जाने से निरतिचार और अप्रतिपाति होता है, अत. उसके इन प्रकृतियाँ का कभी प्रादुर्भाव नही होता है। तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय अन्तराय, इन तीन कर्मों का क्षयोपशम सर्व प्रदेशों में है पर सर्वाविभाग पर्यायो मे नही है। सर्वाविभाग पर्यायो मे इन ज्ञानावरणीयादि

इघातिकर्मो का क्षय हो जाने पर ज्ञानादि गुणो का पूर्णत प्राकट्य क्षायिक भाव में ही होता है। चार अघातिकर्मों—'वेदनीय नाम गोत्र और आयुः' का क्षयोपशम भाव से क्षायिक मे ही गुण प्राग्भाव है। चरित्र मोहनीय के विषय मे तो अनन्तानुवन्धी व अप्रत्याख्याती कषा के अनुदय मे आवरण हानि होने पर स्वच्छता ही रहती है। गुणो की * अविभाग रूप से निरावरणता नही। और प्रत्याख्यानावरण के अनुदय मे कितने ही चारित्र गुणो का +अविभाग आविर्भाव हो जाता है। संज्वलन के अनुदय मे सयम की अविभाग वृद्धि के क्रम से सयम स्थानो के भेद होते हैं।

ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम मे मत्यादि ज्ञान की अविभाग निर्मलता होने पर भी मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय मे चेतना पर पूर्ण आवरण नही होता, किन्तु विपर्यासादिभाव मे परिणमन होता है, उससे अभिनव कर्मों का ग्रहण हो जाता है। सम्यग्दृष्टि की चेतना तो विपर्यास भाव मे नही परिणत होती, किन्तु कषायोदय होने पर कलुषता आजाती है और इससे गति आदि कर्मों का वन्ध होता है, तथापि अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय के अभाव मे अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन काल से अधिक ससार की वृद्धि नही होती। सम्यक्त्व से पतित हुये जोव को अनन्तानुवधी का उदय होने पर भी विंधे हुए मोती के जैसे कदाचिद् उस मोती का छिद्र वन्द हो जाने पर भी उसे खोलने मे कठिनता नही होती, वैसे ही उस सम्यक्त्व पतित जीव के भी ससार वृद्धि नही होती और अर्द्ध पुद्गल-परावर्त्तन रूप काल मे ही ानि वृद्धि का सद्भाव रहता है। जैसे मरीचि के जीव ने सम्यग् दर्शन चारित्र की प्राप्ति होने पर उक्त गुणों के अनुमोदन से ही अल्प ।र I करली थी। अर्थात् सात आठ भव प्रमाणतुल्य ससार भ्रमण

र्णरूप से +पूर्ण

धर्म न होने पर भी 'मेरे पास भी धर्म है' ऐमी प्ररूपग करने से कोडा-कोडो सागर पर्यन्त मसार भ्रमण किया। ऐमा देखा जाता है और इमसे भी अधिक संसार वृद्धि होने को समावना है, किन्तु वह योग्यता प्रदेश रूप है। विपाक रूप से तो एक कोटाकोटो सागरोपम प्रमाण ही है। इस प्रकार सर्वत्र योजना कर लेनो चाहिये। इससे अभिनव ससार का अपुनर्बन्धक होने के कारण सम्यग्दृष्टि 'ज्ञानी' अइन्धव कहा जाता है। यह साराश है। ऐमा 'षष्टिशतक' मे कहा है। सव जगह यही समझें।

भावो रागादिजुओ जोवेण कओउ वधगो भवई।
रागाइ विप्पमुक्को अवधगो जाणगो नवरं ॥६॥

व्याख्या :—यहाँ यह निश्चित है, कि ज्ञान वोर्य क्षयोपशमरूप भाव जो राग द्वेष मोह सम्पर्कज है, वे लोह उपल सम्पर्कजवत् कालायस (लोह) सूत्री कर्म करने के लिये आत्मा को प्रेरित करते है अर्थात् पापकर्म की प्रेरणा करते हैं। तथा रागद्वेषमोहादि के अभाव मे ज्ञानवीर्य क्षयोपशम रूप विवेक से उत्पन्न भाव जो ज्ञान रूप भाव हैं, वे लोह और उपल के विवेक से उत्पन्न भाव के समान हैं, वे कर्म न करने को स्वभाव से ही आत्मा को स्थापित करते हैं। इस कारण से रागादिसकीर्ण अज्ञानमय आत्मा ही कर्त्तृत्व मे प्रेरक होने से वन्ध करता है। रागादि से असकीर्ण विप्रमुक्त आत्मा वन्धक नही है। अत ज्ञानो को अवन्धक माना है। ज्ञानी सदा ज्ञायक भाव का कर्त्ता है। वह द्रव्याश्रवो से गाढ्र्य भाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? वह तो निराश्रव ज्ञायक भाव का भोक्ता है। तब 'ज्ञानो सर्वथा अवन्धक है' ऐसा प्रश्न करने पर यथार्थता करने के लिये कहते हैं —

नाणी नदृठ्ठ भावणाय तो णो उ वधगो भवइ।
जे हु कसाइया हेयवो तेसि *मगेण वधइ ॥६॥

---

*श्लोक का चतुर्थ चरण अपूर्ण है। जो बधइ लगाने से पूर्ण होता है।

कलुसीकय चेयणमा सवधनो वि दव्व कम्माई ।
तेणं बधो अवंधो भणिओ सम्मत्त ठाणाओ ।।७।।

व्याख्या :—सम्यग्ज्ञानी जीव जीवादि पदार्थ समूह को जैसा है, वैसा जानता हुआ बन्धक नही होता; क्योंकि सम्यग्ज्ञान वाले के बन्धकत्व का अभाव है। जो कषायादि हेतु है और उनके सग से कलुषी कृत चेतना युक्त जो है, वही द्रव्य कर्म बांधता है। अत ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म समूहों से ज्ञानी बन्धक और अबन्धक कहा गया है। और सम्यक्त्व स्थान से सयोगी स्थान के चरम समय पर्यन्त यह स्थिति रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अनादि से जीव के चेतनादि भाव जो मिथ्यात्वादि हेतु परिणत हैं, वे ही अभिनव कर्म के बन्धक हैं। जैसे-जैसे हेतुओं की निवृत्ति होती जाती है, वैसे-वैसे बन्ध की भी निवत्ति होती है। जैसा कि कर्मग्रन्थ में कहा है :—

चउ मिच्छ मिच्छ अविरइ, पच्चइया साय सोल पणतीसा ।
योग विणु पच्चइया-हारग जिण वज्ज सेसाओ ।।५३।।
(च. कर्मग्रन्थ)

व्याख्या :—साता वेदनीय का बन्ध मिथ्यात्वादि चारो हेतुओ से होता है। नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व मात्र से होता है। तिर्यञ्चत्रिक आदि ३५ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व और अविरति इन दो हेतुओ से होता है। तीर्थंकर और आहारक-द्विक को छोड़ कर शेष सब (ज्ञानावरणादि पैंसठ) प्रकृतियो का बध मिथ्यात्व अविरति और कषाय इन तीन हेतुओं से होता है। अत शुद्धनय से स्वरूप को ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि कहा है :-

सम्प्राप्य शुद्ध सुनय हतमूल दोष मेकाग्र्य मेव कलयन्ति स्वरूप रूपात् ।
रागादि मुक्त मनस स्सतत भवन्त पश्यन्तु बन्धविधुर निजमात्मभावम ।।

अर्थ :—मूलदोषो-रागद्वेष मोहादि को नष्ट करके, और अपने रूप से एकाग्रता करके, इस प्रकार शुद्ध भाव को प्राप्त करके रागादि से मुक्त मन वाले आप सब सदा अपने आत्मभावको देखिये। जीवा-जीवादि नवतत्वो के यथार्थ स्वरूप का उपयोग (ज्ञान) शुद्ध नय है, और शुद्धनय उपयोग है। वही सवर है। शुद्ध नय को न जानना अज्ञान है और वही आश्रव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जितना शुद्ध नय ग्राहो है; उतना मात्र सवर है। उत्तराध्ययन मे भी कहा है —

भूअत्थेणाहिगया जीवाजीवा य पुण्णपावंच।
सह समुइआ आसव सवरे अ रोमेइ उ निसग्गो ॥१७॥
जै जिणुद्दिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहइ सयमेव।
अेमेष नन्नहत्ति अ निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥१८॥

श्रीउत्तराध्ययन २८ वाँ अध्ययन

अर्थ —जिसने यथार्थ रूप से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नवतत्वों की स्वबुद्धि से परोपदेश के विना अथवा जातिस्मरणादि ज्ञान द्वारा जान लिया है। स्वाभाविक ही इन तत्वो के प्रति रुचि है;वह निसर्ग रुचि कहलाता है जो जिनेश्वर देव द्वारा कहे गये द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इन चारो की स्वयसेव-श्रद्धा कर लेता है कि 'ये ऐसे ही हैं,' अन्यथा नही, उसे निसर्गरुचि जानना चाहिये।

वास्तव मे शुद्धनय आत्मा के शुद्ध स्वरूप और अनन्त ज्ञाना-नन्दादि गुणो का ग्राहक है। एक कार्य मे प्रवृत्त अनन्त पर्यायो के समुदाय को गुण कहते है। एक आत्मा एक समय मे भासन, रमण, भोक्तृत्व, सुख, अगुरुलघु, अव्याबाधादि अनन्त कार्यापन्न भावो को करता है। और वे गुणपर्याय नित्य अनित्यादि अनन्त स्वभाव रूप मे

परिणत होते है। अत एक भी पर्याय अनन्त स्वभावमय है। शुद्धनय से यह आत्म स्वरूप है। उस स्वरूप का ग्रहण शुद्धनय करता हैं। श्रद्धान ज्ञान रमण अनुभव रूप से एकत्व करना सवर है। यह विचार करना चाहिये कि जो आत्मा परानुयायी चेतना से शुभाशुभ तथा परिणत और इष्टानिष्ट रूप से होते हुए परभावो का निर्द्धारण करता हुआ और उनमे रमता हुआ, नये कर्म दलिको को जो स्वक्षेत्रावगाढ हैं, प्रकृति भेदरूप से परिणत करके शुद्धवीर्य से ग्रहण करता है। अर्थात् आश्रवण करता है, और उसी समय आत्म प्रदेशो के साथ क्षीरनीरवत् एक करता है। अर्थात् बांधता है। उसी स्वअनुयायी चेतना से परमात्मा, परमभाव के ग्राहक, परमानन्दकन्द, केवल ज्ञान, केवल दर्शन उपयोगो से युक्त श्रीमत् अर्हदादि पच परमेष्ठियो के स्मरण, चिन्तन, उनके गुण और ज्ञान का श्रवण, तथा अनुभव में लगा देने पर, शुद्ध आत्मधर्म के श्रवण, चिन्तन व अनुभव मे परिणत हुआ अभिनव कर्मों को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त नही होता, वही सवर है, अत शुद्धनय का ग्रहण सवर है। और शुद्धनय को न जानना अज्ञान है। अज्ञान आश्रव है। जितनी शुद्ध स्वरूप-ग्राही चेतना है, उतनी ही अनाश्रवी है। जैसा कि श्री भगवती सूत्र मे कहा है —

"तहारूवे समणोवासये तहारूवाणं समणाण निग्गथाण फासुएण असणपाण खाइम साइमेण पडिलाभे माणे किं कज्जति ? गोयमा ! एगत सो निज्जरा कज्जति, नत्थि से पावकम्मे" इति

यहाँ सत्साधु को दान देने का फल निर्जरा दिखलाया है। यद्यपि श्रमणोपासक के ज्ञानावरणीयादि पाप का वन्ध है और वह कषाय, असयम रूप अन्य परिणति से होता है। नकि यथा विधि दान परिणति से ? इस प्रकार यथार्थज्ञान की परिणति से अबन्धकत्व है। और शेष आश्रव परिणति से बन्धकत्व है, बन्धकत्व होने पर भी यहाँ

तो सम्यग्यदर्शनादि रूप से चेतना की परिणति का स्वरूप कहने के प्रसग पर उसका स्वरूप कहना ही युक्त है और वह स्वरूप अबन्धक है। अतः सम्यग् ज्ञान अनाश्रव है।

इत्थ शुद्धात्मबोधात् स्वसमयरसिक स्वात्मरामी स्वशीलो,
स्याद्वादी तत्वभोगी पर पद्विलयात् स्वात्मतालीलशाली।
स्वीयानन्दाब्धिरामी निजगुण करणा दस्तिता कार्यकारी,
सोऽय वन्ध नवीन न किमपि कुरुते सवरी शुद्धचेता ॥१॥

अर्थ .—इस प्रकार शुद्धबोध से स्वभाव रसिक, स्वात्मा मे रमने वाला, स्वआचारशील, स्याद्वादी, तत्वभोगी, परपद-पुद्गलादिभाव के विलय से आत्मा मे ही विलास करने वाला, अपने ही आनन्द समुद्र मे रमण करने वाला, निजगुणो को करने से अस्तिता का कार्य करने वाला, वह सवरी और शुद्ध चेतना वाला आत्मा कुछ भी नवीन बन्ध नही करता है।

इस प्रकार निराश्रव आत्मस्वरूप का कहने वाला महत्वपूर्ण अधिकार समाप्त हुआ।

इति श्रीमद्देवचन्द्र गणि सन्हब्धे अध्यात्मप्रबोधेऽपरनाम देशनासारे निराश्रवात्मस्वरूपवर्णक श्चतुर्थोऽधिकार।

अथ सवरवर्णन रूप पञ्चमोऽधिकार।

अब पचम सवर अधिकार आरम्भ करते है —

आसंसारविपक्षसवर पददध्वसैक बद्धाशय,
दुस्त्याज्य भवको सवरकर स्फूर्जद् विभावाश्रय:। त्य
प्राचीन पररूपतो नियमित सज्ज्ञानज्योति रवक,
स्याद्वाद स्वपरावबोधविमल तत्व समुज्जृम्भते ॥ ॥

अर्थ :—संसार पर्यन्त विपक्ष रूप से सवरपद का छ्रम करना ही मात्र जिसका ध्येय है, करोड़ों भवो तक विभाव का आश्रय लेकर रहता है और अविरति रूप से ही जिसकी किरणें चमकती रहती है, ऐसा आश्रव है। उसको ऐसे प्राचीन पररूप से निर्यमित किया गया आत्मा जो सज्ज्ञान ज्योति है, उसे प्रकट करने को स्वपर का ज्ञान कराने वाला स्याद्वादरूप तत्वबोध सम्यग् प्रकार से क्रिया शील तत्पर है।

अब सर्व प्रथम सकल कर्मों के सवरण का श्रेष्ठ उपाय भेद विज्ञान है, उसका अभिनन्दन करते हैं :—

उवओगे उवओगे कोहाइ सु णत्थि कोवि उवओगे।
आया आय सहावो, णो परभावी कया हवई ॥१॥
अण्णो जीवा सव्वे, अचेयणा णतसो य पर दव्वा।
णा हु ते णो ते मे, इय सणाण भेद विन्नाण ॥२॥

व्याख्या :—जीव और पुद्गल एक दूसरे के नहीं है। दोनों भिन्न-भिन्न प्रदेश वाले हैं; अतः एक सत्ता सिद्ध नहीं होती। और सत्ता न होने से आधार आधेय सम्बन्ध भी नही है; क्योंकि आधार आधेय सम्बन्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। अतः ज्ञान ज्ञाता मे रहता है। और ज्ञाता ज्ञान से पृथक् नहीं है। ज्ञान की जानने की शक्ति भी ज्ञान से पृथक् नही है। क्रोधादि भी क्रुद्धत्वादि अवस्थाओ मे रहते हैं और उनसे अपृथक् नही है क्योंकि क्रुद्धत्वादि अवस्थाओ मे ही मिलते हैं। इसी प्रकार विषय कषायादि कर्म अथवा नोकर्म (शरीर) मे, ज्ञान नही है, और ज्ञान मे विषयकषायादि नही है। क्योंकि इनके स्वरूप मे विपरीतता होने से पारमार्थिक रूप से आधार आधेय सम्बन्ध भी नही है। जैसे ज्ञान का स्वरूप ज्ञातृता है, क्रोधादि का स्वरूप क्रुद्धत्वादि है। इसी प्रकार आत्मा व पुद्गलादि पर

भावो का स्वभाव से ही भेद है, और स्वभाव भेद ही वस्तु भेद है। ज्ञान और जड का आधार आधेय भाव भी नही है। किं च एक आकाश प्रदेश की एक आकाश प्रदेश में ही रहने की विभावना (विचार) करते हुये, पर आधार आधेयत्व का भाव नही होता। एव एक ज्ञान को ही स्वबुद्धि मे अधिरोपण करके आधार आधेय भाव का विचार किया जाता है, तब अशेष द्रव्यो-विषय कषायादि का अधिरोप होने से ही वुद्धि से भिन्न अधिकरण की अपेक्षा उत्पन्न नही होती। तब एक ज्ञान मे प्रतिष्ठित विचारते हुये पर का आधार आधेयत्व प्रतिभात नही होता। अतः आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान ही है। क्रोधादि तो अशुद्ध ही है। इस प्रकार भेद विज्ञान सिद्ध होता है। और तब भेद विज्ञान से शुद्ध आत्मा उपलब्ध होता है। शुद्ध आत्मा की उपलब्धि से रागद्वेष मोह के अभाव रूप सवर प्रकट होता है। यहां कोई शका करे कि भेद विज्ञान से ही आत्मा की उपलब्धि कैसे हो जाती है ? उसका समाधान करते हैं :—

जह् कणयमग्गि तविय कणयभाव ण परिच्चयद्।
तह् कम्मोदय तवियो जीवो ण जहइ णाणित ॥३॥
एव जाणइ नाणी अन्नाणी रागदोस मेवाय।
अन्नाण तमोत्थतो आयसहाव अयाणतो ॥४॥

व्याख्या —जैसे कनक अग्नि से तपाया जाने पर भी कनक भाव को नही छोडता, वैसे ही कर्मोदय से तप्त ज्ञानी जीव भी ज्ञानत्व का परित्याग नही करता। इस प्रकार ज्ञानी जानता है और अज्ञानी तो अपने आपको रागद्वेषमय जो अज्ञान से उत्पन्न भाव है, उनके कारण आतमस्वभाव को न जानता हुआ स्वपर का भेद करने मे अशक्त है। अत. अज्ञानी वन्धक और ज्ञानी अवन्धक जानना चाहिये।

जिसको यथार्थ भेदज्ञान है, वह भेदज्ञान होने से ज्ञानी होता हुआ जानता है कि जैसे प्रचण्ड अग्नि से प्रतप्त सुवर्ण सुवर्णत्व का परित्याग नही करता, वैसे ही प्रचण्ड कर्म विपाक से मूर्च्छित होने पर भी मूर्च्छित आत्मा स्वरूपत्व को नहीं छोड़ता। क्योंकि हजारों कारणों से भी स्वभाव का परित्याग करना अशक्य है। स्वभाव का त्याग हो जाने से वस्तु मात्र का ही उच्छेद हो जाता है। स्वभाव का त्याग होता नही, अतः वस्तु का नाश भी नहीं। वस्तु सत् है, अतः नाश असंभव है। एवं आत्मा भी जो ज्ञानमय है, अपने स्वरूप को जानता हुआ कर्मों से आक्रान्त होने पर न राग करता है, न द्वेष, न मोह किन्तु शुद्ध आत्मा उपलब्धि करता है और जिस आत्मा को यथोक्त भेदज्ञान नही है, वह भेदज्ञान के अभाव मे अज्ञानी होता हुआ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न होने से 'चैतन्य चमत्कार मात्र है, इस आत्म स्वभाव को नही जानता हुआ, आत्मा को रागमय मानता हुआ, रागद्वेष मोह करता है, उसे कभी शुद्धात्मा का ज्ञान नही होता। अतः भेद विज्ञान से ही शुद्धात्मा का ज्ञान होता है। वास्तव में जो सदैव अविच्छिन्न धारायुक्त ज्ञान से शुद्धात्मा को जानता हुआ अवस्थित रहता है, वह सज्ज्ञानमय भाव से संवरमय भाव वाला ही होता है। कर्म आने के निमित्त रागद्वेष व मोह की सन्तान (परम्परा) के निरोध से शुद्ध आत्मा को जानता है अथच प्राप्त कर लेता है। और जो सदा अज्ञान से अशुद्ध आत्मा स्वरूप मय है, और उसी मे अवस्थित है, वह अज्ञान मय भाव से अज्ञानमय भाव वाला है। और इस कारण से कर्म आने के निमित्ति रागद्वेष व मोह की परम्परा की वृद्धि को निरोध न करने से अशुद्धरूप को पाता है। अतः शुद्धआत्मा का उपलब्धि (ज्ञान) से ही संवर है।

कहते हैं कि :—

"ये यावन्तो ध्वस्तबन्धा भवन्ति, भेदज्ञानाभ्यास एवात्र बीजम्।
ये यावन्तोऽध्वस्तबन्धा भ्रमंति, भेदज्ञानाभाव एवात्र बीजम् ॥२॥

अर्थ :—जितने आत्मा ध्वसावन्ध (मुक्त) होते हैं, उसमें भेदज्ञान का अभ्यास ही मूल कारण है, और वे जितने आत्मा जो वन्ध का नाश नही कर सके है, और ससार में भ्रमण करते हैं, उनके भ्रमण का मूलकारण भेदज्ञान का अभाव ही है।

यहाँ यह विचार करना चाहिये, कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, पुद्गलास्ति और जीवास्ति, ये पाँच अस्तिकाय हैं। इनमें जीव ही पुद्गल सग निमित्त से कर्मों का कर्त्ता है। अन्य सभी अजीव हैं। जीव के अपने गुणबन्धक नही होते, गुणो की प्रवृत्ति के अभाव में बन्ध होता है, और जो क्षयोपशम से प्रकटी-भूत मति-ज्ञान श्रुतज्ञानादि और वीर्यादि गुण हैं वे शुभ या अशुभ परभाव मे प्रवृत्त होते है। तव वे शुभभाव मे प्रवृत्त होते हुये शुभ कर्म का और अशुभ भाव मे प्रवृत होते हुये अशुभ कर्म का बन्ध करते हैं। शुद्ध ज्ञानादि मे प्रवृत्त हुये कर्मवन्ध नही करते। प्रकट हुये ज्ञानादि गुण जव स्व-स्वकार्य मे प्रवृत्त रहते हैं, तव अवन्धकता रहती है। आत्मा के गुण जो स्वात्म स्वरूप के भासन, रमण और अनुभव में अप्रवत्त हैं; और न पहले कभी वे गुण प्रकट हुये हैं। वे ही पुद्गल के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शादि गुणो मे इष्ट अनिष्ट रूप से परिणत हुये कर्मों के वन्धक होते हैं। मात्र ज्ञान जो ज्ञायक भावपरिणत है, वह वन्ध के लिये नही प्रवृत करता, किन्तु जो विपर्यास से इष्टानिष्टतया परिणत होता है, वह वन्धन कारक है। मिथ्यात्व अविरति, कषायादि हेतु परि-णत चेतना व वीर्यादिगुण अभिनवकर्मों के ग्राहक होते हैं। जो विपर्यास रूप ज्ञानादि परभाव में रमण करते हुये परभावो को करते है, परला-भादि मे सन्तुष्ट रहते हं, परभोगी है, परभाव मे आसक्त और मत्त है, वे वन्ध करते हैं। इस प्रकार 'कौन वन्धक है'? इसका निर्णय हुआ। अव "परसग से मुक्त वन्धक नही है" इसी को दृढ करते है —

जो सव्व संग रहियो, सद्दहइ जाणइ रमइ नियभावे ।
सो णो वधइ कम्म, चेआ चिंतते णिय भावाइ ।।५।।
अरिहताइ सुउनउतो, णियसत्ताइसु जो उवउत्तो ।
तदणुगय खओवसमो, ण वधइ वधइ परद्धो य ।।६।।

व्याख्या —जो आत्मा सर्व परभाव सग से मुक्त है, और अपने स्वभाव में श्रद्धा करता है। स्वभाव को जानता है, स्वभाव मे रमण करता है और अपने भाव को भोगता है, वह कर्म समूह को नही बाँधता है। जो आत्मा चेतन स्वरूप का चिन्तन करता है तथा अर्हन्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधुओं के गुणो मे उपयुक्त है अर्थात् चिन्तन में लीन है ; तथा यथार्थ जीवादि तत्वों के स्वरूप ज्ञान में प्रवर्तमान चेतना वाला अथवा स्वसतादि भाव के अवभासन (ज्ञान) मे उपयुक्त है और तदनुगत क्षयोपशमवाला है, उसको चेतनादि अनुगत वोर्यादि हैं, अत वह कर्म नहो वांधता। अत. परभावों के ग्रहण भोग रमण आदि अज्ञान मे प्रवृत्त चेतना वध कारक है, यह सिद्ध हुआ। मात्र नही आत्मा जो राग द्वेष मोह मूल, शुभाशुभ योगों मे वर्तमान चेतना को, दृढतर भेद विज्ञान के अवष्टम्भ[1] से, आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्यन्तिक रूप से रोक कर शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्म द्रव्य मे अच्छी तरह प्रतिष्ठित करके, समस्त पर द्रव्य की इच्छा के परिहार द्वारा समग्र पर-सग से विमुक्त होकर, सदैव निष्प्रकम्प (अचल) है, वह किञ्चिद् भी कर्म-ज्ञानावरणादि, नोकर्म-शरीरादि के रस स्पर्श से वद्ध नही होता। अपने आत्मा को ही आत्मा के द्वारा विचार करता हुआ, स्वय सहज स्वभाव का चिन्तक होने से, आत्मा के एकत्व का ही चिन्तन करना है। वह निश्चय से एकत्व के चिन्तन

---

[1]अवलम्वन

द्वारा परभावो से एकदम पृथक् चैतन्य चमत्कार वाले आत्मा का ध्यान करता हुआ, शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय आत्मा को प्राप्त हो जाता है, और शुद्ध आत्मा के उपलब्ध होने पर, समस्त परद्रव्यमयत्व को जो अतिक्रान्त करता हुआ, शीघ्र ही आत्मा को सकल कर्मो से विमुक्त कर लेता है, यही सवर का रूप है। इसी कारण से उत्तम-जन राज्य का त्याग करते हैं, गृह वास से निकलते है। विविध प्रकार के तम अ गीकार करते है, गुणियो के चरणारविन्द की सेवा करते हैं। एषणीय आहार के लिये भ्रमण करते हैं। देशो मे विहार करते हुये वर्षा, शीत, ग्रीष्म आदि कष्ट सहते हैं। विनय, वैयावृत्य में रत रहते हुये, आत्मा की शुद्धता करने के लिये विचरते हैं। "परप्र सग योग से परभावो में व्यापकता न हो जाय" इसकी सावधानी रखते हैं, क्योकि परव्यापकता से ही अनन्त काल से महा नरक, निगोदादि स्थानो मे भटकता रहा है। और अपने परमानन्द, ज्ञानस्थिरता, सुख का अनुभव नही किया है। अव मैंने मुक्ति के साधन व कारण प्राप्त कर लिये हैं; अत अकृत्यसगी न होऊं, और जिस प्रयोग से स्वरूप की सम्यक् सिद्धि हो, वही मेरे लिये करणीय है, ऐसा निश्चय करके स्वतत्व-आत्मतत्व मे रमता है।

जीव के, जव तक 'आत्मा और कर्म की एकता है' इस धारणा के मूल-मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, कषाय और योग रूप अध्यवसाय हैं, वे ही रागद्वेष मोह लक्षण आश्रव भाव के हेतु है। आश्रव भाव, कर्म का हेतु है, कर्म नोकर्म* हेतु, नोकर्मराग–ससार का हेतु है। इस कारण से आत्मा, आत्मा व कर्म के एकत्व अभ्यास से मिथ्यात्व रूप, अविरति रूप व अज्ञानमय ही आत्मा को जानता है। इसी से राग-

---

*शरीर

द्वेष मोह रूप आश्रवभाव की भावना करता है। इससे कर्म का आश्रव होता है और नोकर्म-शरीरादि होते हैं। शरीरादि राग से संसार-भ्रमण का सामर्थ्य बढता है। और जब आत्मा व कर्म के भेद विज्ञान से शुद्ध चैतन्य चमत्कार रूप आत्मा को जान लेता है; तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति लक्षण अध्यवसायों का जो भावआश्रव के हेतु है, उनका अभाव हो जाता है। हेतुओ के अभाव मे रागद्वेष मोहरूप आश्रवभाव का भी अभाव हो जाता है। आश्रव भाव के अभाव में कर्म नोकर्म का अभाव होता है। कर्म नोकर्म का अभाव होने पर ससार का अभाव होता है। इस प्रकार सवर का क्रम है।

सम्पद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्म तत्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञान मयो हि साक्षात् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥३॥

अर्थ :—शुद्ध आत्मतत्व की प्राप्ति से निश्चय ही सवर की उपलब्धि होती है और सवर भेद-विज्ञानमय है; अतः भेद-विज्ञान की अत्यन्त भावना करनी चाहिये।

भेदविज्ञानतो युक्ता; मुक्तानन्ता जिनोत्तमाः ।
तस्यैवाभावतो बद्धा; बद्धा ये. किल केचन ॥४॥

अर्थ :—भेद-विज्ञान से युक्त अनन्त जीव जिनोत्तम और मुक्त हुये हैं और भेद-विज्ञान के अभाव से बद्ध होते हैं। अतः जो बद्ध है, वे निश्चय ही भेद-विज्ञान के अभाव के कारण ही बद्ध हैं।

अत सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान बल से, स्वपर का भेद-ज्ञान करके, सम्यक्चरित्र के बल से, स्वरूप का एकत्व और परभाव का त्याग करना चाहिये। परभाव का त्याग होने पर नये कर्म नही आते हैं। नये कर्मों के अभाव में स्वरूपानुग तप करने से पूर्व बद्ध कर्मों की

सकाम निर्जरा होती है। अनभिसन्धिचक्र-मिथ्यात्वादि हेतु समूहो के अभाव में होने वाला कर्मबन्ध तो थोड़ा होता है और सम्यग् दर्शन वाले के निर्जरा तो अधिक होती ही है आवश्यक नियुंक्ति में कहा है –

पल्ले महे महल्ले कुंभ पखिवइ न सोहइ नालिं ।
इय मिच्छसी जीवो बधइ बहूयं खवइ अप्पं ।।१।।
पल्ले महे महल्ले कुभ खिवइ सोहेइ नालिं ।
इय समती जीवो बधइ आपं खवइ बहुयं ।।२।

अर्थ :—कोई व्यक्ति वड़ी भारी कोठी में घडे भर-भर कर अनाजादि डालता जाय और कभी उसकी नाली न खोले, न साफ करे तो वह कोठी कभी खाली नही होती। वैसे ही मिथ्यात्वी जीव बांधता तो बहुत ज्यादा है, और भोगकर क्षय थोड़े कर्म, करता है। इसी प्रकार इससे विपरीत सम्यक्त्वीजीव है, जो ऐसे व्यक्ति के जैसा है, जो वड़ी भारी कोठी मे डालता कम है और नाली को साफ करता रहता है और कोठी को खाली करता रहता है। सम्यक्त्वी जीव हेतुओ के अभाव में वन्ध कम करता है और क्षय अधिक करता है।

अतः सम्यग् दृष्टि के निर्जरा अधिक होने से ससार मे भ्रमण कराने वाले कर्मों का क्षय होता रहता है। सर्व कर्मों का क्षय होने से आत्म स्वरूप का लाभ अर्थात् मुक्ति होती है। ऐसा जानना चाहिये।

अब तत्वार्थ वृति के अनुसार सवर के भेदो का वर्णन करते हैं:

आत्मा कर्मोयादान हेतु-भूत परिणामो का अभाव सवर है। अत. जो कुछ भी कर्म आगमन के निमित्त का अभाव है वह सवर है। वह देश, सर्व भेद से दो प्रकार का है। बाहर सूक्ष्म योगो के

निरोध के समय सर्व संवर होता है। चारित्र स्वीकार से लेकर शेष काल मे आत्मा देश-सवर परिणति वाला रहता है। यहाँ कहते हैं कि यदि सकल आश्रव द्वारो को रोकने रूप सवर है, तब कर्म आने के समस्त निमित्त रूप आश्रव छिद्रो को वन्द करने की इच्छा तो कुछ ऐसे पुरुषो को जो सम्पूर्ण परिष्पन्द-योगचन्चलता का निराकरण करने के इच्छुक हैं, उन्हें ही होती है, अतः समचतुस्त्र सस्थान व वज्रर्षभनाराच संहननादि वाले महान् पराक्रमशाली आत्मा जो कर्म निर्जरा के अभिलाषी और परिपूर्ण शक्तिमान् हैं, वे परिस्पन्द स्वभाव योगो का निग्रह करने का उपक्रम करते है और उनके कर्म निवृत्ति होती है। तो फिर इस युग के पुरुषो के तो यथोक्त सवर का अभाव ही रहा। इसका समाधान करते हैं —वह सवर दो प्रकार का है.— १ देशत' २ सर्वतः—सर्व सवर का अभी अभाव है; देश का नही। वर्तमानकालीन सामायिकादि चारित्रधारीयों तत्वज्ञ पुरुष जो ससार समुद्र से पार होने के इच्छुक है, उनके योग परिष्पन्द [चञ्चलता] होने पर और प्रधान संवर के अभाव में भी, जो समस्त प्रमाद स्थानो से दूर रहते हैं, उनके देश —सवर है ? या सर्व सवर है ? इसका प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं .—

वह संवर उनके गुप्ति, समिति, धर्मानुप्रेक्षा, परिपहजय और चारित्रों से होता है। यह आश्रव निरोध लक्षण कहा गया है। वह किस उपाय से करना चाहिये ? उस उपाय को दिखलाने के लिये यह सूत्र है :—"स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परिषहजय चारित्रैः" 'स' इस सर्वनाम से प्रक्रान्त सवर का विचार करते हैं —गुप्ति का अर्थ सरक्षण है, वह सवर करने वाले के लिये करणीय है। गुप्ति करने का उपाय समिति है, जिसका अर्थ है–सम्यग् गति अर्थात् सकलक्रियोपलक्षण सर्वज्ञप्रणीत ज्ञानानुसारिणी चेष्टाएँ समितियाँ है। उनसे

सवर होता है। नरकादि कुगतियो में गिरते हुये आत्मा को पकड़ले, गिरने न दे वह धर्म है। जो क्षान्त्यादि दशलक्षण रूप है, अनु-चिन्तन अनुप्रेक्षा है, अथवा अनुप्रेक्षा भावना को कहते है। उस प्रकार का अनुचिन्तन या भावनाएँ जिनसे सवर सुलभ हो, अनुप्रेक्षा कहलाती है। वे १२ है, सर्व ओर से होने वाले क्षुधा पिपासादि कष्टो को जो सहन किया जाता है, वे परिषह कहलाते हैं। परिषहो को जीतना, उनसे अभिभूत न होना परिषहजय है। ये २२ होते हैं। चारित्र कहते है—अष्टकर्मों के चय-अर्थात आत्मप्रदेशो से बद्ध कर्म समूह के सचय-सग्रह को खाली करना। वह सामायिकादि पाँच प्रकार का है। जो इन गुप्त्यादि उपर्युक्त उपायो से होता है। प्रस्तुत सवर का सम्वन्ध वतलाने को तद् शब्द का प्रयोग है। यह सवर आश्रव निरोध लक्षण है। यह मन मे व्यवस्थापित कर लिया कि इन गुप्ति आदि करने रूप उपायो से सवर होता है। अर्थात् सवर का यह स्वरूप है।

अव ये गुप्ति आदि करण कैसे होते हैं ? इसे स्पष्ट करते हैं। रागद्वेष की परिणति रूप आर्तरौद्र ध्यान से मन को हटाकर व ऐहिक तथा पारलौकिक विषयो की अभिलाषा का निराकरण करने से मनोगुप्ति होती है और उससे नरकादि के हेतु कर्मो का वन्ध नही होता।

वचन गुप्ति का स्वरूप यो है —जो दुर्वचन नही सहन करने, असत्य प्रलाप करने, प्रियवचन वोलने आदि हेतुओ से कर्म बंधते है, वे वाग्-व्यापार से विरत-मौनी-वचन गुप्ति वाले या यथोक्त [शास्त्रोक्त] हितमित पथ्य भाषण रूपी वचन से भी, मुक्त होने से नही बंधते है। वैसे ही कायगुप्ति वाले के भी जो कायगुप्ति रहित के दौड़ना, लटकनादि शारीरिक क्रिया करना, अप्रतिलेखित अप्र-

मार्जित भूमि में प्रवेश, चक्रमण [घूमना] द्रव्य पदार्थों-वस्तुओं को लेना, देना, रखना आदि निमित्तो से कर्म का आत्मा में बध होता है, वह कार्योत्सर्गस्थित के अथवा जिसने हिंसादि दोषो का परित्याग कर दिया, उस प्रकार की क्रिया नही करता और शास्त्र-विहित क्रियानुष्ठान करने वाला है, वह कार्यगुप्ति वाला होने से उसके पूर्वोक्त निमित्तो से होने वाला बन्ध नही होता। इस प्रकार सम्यग् रूप से मनोवाक् काय रूप तीन योगों के निग्रह रूप तीन गुप्तियां संवर करने वाली होती है।

समितियाँ भी प्राय. मनोवाक्काय की सम्यग् चेष्टा लक्षण गुप्ति रूप ही है, मनोवाक्काय व्यापार को चेष्टा कहते हैं। समितियाँ पाँच हैं.- १. ईर्या समिति २ भाषा समिति ३ एषणा समिति ४. आदान निक्षेपण समिति ५. उच्चार प्रस्त्रवूण खेलजल्ल सिंघाण पारिष्ठापनिका समिति, इनमें ईर्या, आदान, निक्षेप और उच्चारादि पारिष्ठापन–[त्याग] तीन समितियाँ काम व्यापार के अन्तर्भृत है। मनोव्यापारानुयामिनी एषण समिति और वाग् व्यापार लक्षण भाषा समिति है। इनका जो पृथक् रूप से ग्रहण है, वह अल्प बुद्धिजीवों को सुख पूर्वक ज्ञान होने के लिये है। अनन्तानुबन्ध्यादि भेद वाले क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षमा, मार्दव, आर्जव से निग्रह होने पर सवर की प्राप्ति होती है। कही लोभ के निग्रह से मुक्ति कहलाती है। सत्य, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य-ये चारित्रानुयायी हैं। संयम सत्रह प्रकार का भी होता है। जिसके भे-ों मे से कुछ का समावेश तो प्रथम अहिंसा व्रत में हो जाता है, शेष उत्तरगुणान्तर भूत है। बारह प्रकार का तप तो उत्तरगुणान्तर्वर्ती है ही। अनित्य अशरणादि अनुप्रेक्षाएँ-भावनाएँ भी सवर करते हुये हेतुभूत उत्तर गुणानुयायिनी हैं। परिषह भी जो स्वत आ गये हैं, सम्यक् रीति से सहन करने के कारण जीते जाते

हुये, संवर का अविष्कार करते हैं, अर्थात् सवर होता है। हिंसा, असत्य, चौरी, अब्रह्म, परिग्रह और रात्रि भोजन, जो संश्लेष विशेष से आने वाले कलुप पाप-कर्म के आश्रव के निमित्त है, उनका निरोध होने के कारण विरति वाले के उन निमित्तो से होने वाले कर्माश्रव का रोध हो जाता है और आधाकर्मादि परिभोग निमित्त से होने वाला कर्माश्रव भी आधाकर्मादि का त्याग होने से नही होता। इस प्रकार इन सव शका दोषो के जाल से विमुक्त, सम्यग्-दर्शन पीठ प्रतिवन्ध युक्त, तथा गुप्त्यादि चारित्र मे जिसका मन लगा हुआ है और तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व है, उस प्राणी के मिथ्यादर्शन प्रत्ययिक कर्म वन्ध नही होता। इस प्रकार हेतु त्याग से आश्रव का अभाव, आश्रवाभाव से कर्मों का अग्रहण होता है।

सम्यक् रीति से योगो का निग्रह गुप्ति है। जो स्व स्वरूप के पूर्ण अधिपति हैं, उनके गुण परिणमन रूप समिति का परिणाम है। तथा स्वरूप एकत्व होने पर जो योगवीर्य की स्थिरता है, वही गुप्ति है। अथवा सम्यक् प्रकार से शुद्ध परिणाम वाले मुमुक्षु के योग निग्रह–योगो की अप्रवृत्ति गुप्ति आत्मसरक्षण है। साराश कि आगमानुसार राग द्वेष रहित परिणति का सहचारी मनोव्यापार मनोगुप्ति है। ऐसी मनोगुप्ति वाले के वचन गुप्ति और कायगुप्ति स्वत होती है। न कि तस्कर के जैसे जो उग्र गाढ वन्धन से वद्ध है और जिसका हृदय-प्रदेश अत्यन्त निपीडित है। वह अपनी पराधीनता नही चाहता हुआ श्वास रोक कर निश्चेष्ट हो जाता है और अपनी चोरी छुपाने के लिये मृतक सा वनकर सारी शारीरिक क्रियाऐं रोक लेता है ऐसा योग निग्रह यहाँ इष्ट नही है। इस प्रकार रागद्वेप रहित परिणति युक्त योग व्यापार के निरोध से सवर सिद्धि वतलाई है। और स्वरूप साधन के लिये विहार आदि के कार्यो मे प्रवृत्ति होने पर भी संवरत्व है।

समितियाः—ईर्यासमिति–ईरणम्-ईर्या, अर्थात् गमन को ईर्या

कहते है। स्व और पर को बाधा न पहुँचाते हुये चलना ईर्यासमिति है। जैसा कि दशवैकालिक मे उल्लेख है:—

पुर ओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे।
वज्जतो वीय हरियाई, पाणे अ दग महियं ॥ ३ ॥
ओवाय विसम खाणु, विजल परिवज्जए।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ।

(दश० ५ अध्य०, १ उद्देशक)

अर्थः—आगे युग प्रमाण भूमि को देखता हुआ और बीज हरी-वनस्पति, प्राण—विकलेन्द्रिय-जीव, जल तथा सजीव मिट्टी को बचाता हुआ गमन करे ॥ ३ ॥ अन्य मार्ग के रहते अवपात—गड्ढे—ऊबड़-खावड जमीन, कटे हुये सूखे वृक्ष या अनाज के डण्ठल, कर्दमयुक्त मार्ग को छोड़दे, जल या गढ़े को पार करने के लिए लकड़ी या पत्थर आदि रखे हुये हो उनपर होकर न जाय ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सम्यग् भाषा जो आगमानुवर्त्तिनी है, भाषा समिति है।

"जाअ सच्चा अवतव्वा, सच्चा मोसा अ जा मुसा।
जा अ वुद्धेहि णाइण्णा, न तं भासिज्ज पन्नव ॥ २ ॥"

(दशवै० ७ अध्ययन)

अर्थः—बुद्धिमान् मुनि अवक्तव्यसत्य सत्यामृषा—व्यवहारभाषा और मृषा—झूंठ, जो पण्डितों द्वारा अनाचीर्ण है, उसे न बोले।

"महुरं निउण थोवं कज्जावडि अ मगव्वी अ मतुच्छं।
पुव्वं मइसंकलियं भणंति तं धम्म सजुत्त ॥ ॥"

अर्थ.—पण्डितजन आठ गुणो से युक्त भाषा वोलते हैं। वे गुण हैं—१ मधुर २ निपुण–चातुर्यपूर्ण ३ स्तोक--थोडे शब्द किन्तु वहु अर्थ युक्त, ४ कार्यापतित--काम पडने पर ५ अगर्व--अभिमानरहित, ६ अतुच्छ-शिष्टजनयोग्य ७ पूर्व में बुद्धि से सकलित--अर्थात् विचारी हुई और धर्मसयुक्त--जिससे धर्म की हानि न हो।

एषणा समिति '—आहार, जल, वसति, तथा वस्त्रादि उपधि, दोष रहित ग्रहण करने को एषणा समिति कहते हैं। दयादि साधनार्थ जिनाज्ञा से गृहीत उपकरण–वस्त्र, पुस्तक, पात्र रजोहरण, दण्डादि को ग्रहण करते या रखते समय देखकर तथा प्रमार्जन करके आदान–लेना, निक्षेप–रखना, आदाननिक्षेपणा समिति है।

पारिष्ठापनिका समिति —स्थण्डिल–किसी त्यागने योग्य वस्तु को डालने योग्य भूभाग को कहते हैं। वह कैसा हो उसे वताते हैं :—स्थावर जगम जन्तुर्वजित होना चाहिये। पृथ्व्यादि ५ स्थावर कहलाते हैं और द्वीन्द्रियादि पंचेन्द्रियपर्यन्त जीव जगम हैं। इनसे वर्जित–रहित स्थान-भूमि पर आंखों से अच्छी प्रकार निरीक्षण और प्रमार्जन करके पुरीष-मल-मूत्र श्लेष्म शरीर का मल कफ भक्त पान वस्त्र पात्र आदि का विसर्जन-त्याग करना पारिष्ठापनिका समिति है। समिति गुप्तियों का संवरहेतुत्व कहा गया।

अव कौनसा धर्म सवर का कारण है ? यह वतलाते हैं .—

१ उत्तमक्षमा २ उत्तम मार्दव ३ उत्तम आर्जव ४ उत्तम मुक्ति ५ उत्तमतप ६ उत्तमसयम ७ उत्तमसत्य ८ उत्तमशौच ९ उत्तम अकिंचन १० उत्तम ब्रह्मचर्य।

उत्तम शब्द के ग्रहण से विपर गलादि अन्योन्यदोपरहित, उपकार अपकार विपाकादि हेतुओ से विमुक्त क्षमादि १० धर्म, सवर हैं और इनसे नये कर्मों का आश्रव-आगमन नही होता।

इनका स्वरूप इस प्रकार है :—

सहन करने को क्षमा कहते है। आपत्ति उपद्रव उपसर्ग आदि होने पर ऐसी भावना करे कि शुभोदग मे भी कर्म विपाक है और अशुभोदय मे भी कर्मविपाक है। ऐसा समझ कर किसी के द्वारा आक्रोश छेदन ताडनादि होने पर क्रोध से उद्धत विचार न करे। बल्कि कोई आक्रोश करे तो विचारे कि वह अपशब्द बोलता है तो मेरी आत्मा का क्या बिगडता है ! आक्रोश करने पर क्या पीड़ा हुई, ताडना तो नही करता। ताडित होने—पीटा जाने पर सोचे कि पीटने से मरण तो नही होना। कदाचित् कोई वध भी करदे तो चिन्तन करे कि प्राण कर्मोदय-जन्य है, इन्हे त्यागने पर आत्मा का क्या गया ? सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप साधनामार्ग अक्षय रहनेपर सब स्वस्थ ही है। 'यदि दुष्प्राप्य धर्म है, तो सब अपना अपने पास ही है। अत आक्रोशादि किसी के द्वारा होने पर क्रोध क्यो किया जाय ? समता से रहना चाहिये। विचार करे कि मैं क्रोधादि का कर्त्ता नही हूँ, न ये मेरे हैं, क्योकि ये मेरे स्वरूप में सत्तारूप से नही है; अतः मैं इनका स्वामी नही हूँ। मैं तो स्वसत्तागत क्षमा धर्म का ही स्वामी हूँ। और क्षमा क्रोधोदय से आवृत होने पर भी मेरी स्वलक्षण स्वरूप होने से मेरा धर्म ही है। क्योकि क्रोध, चारित्रमोहोदयव्याप्त चेतनावीर्य से गृहीत कर्म-दलिको की विपाक अवस्थारूप है, वह मेरा कैसे हो सकता है। इस प्रकार की भावना से क्रोधोदय की निष्फलता करनी चाहिये तथा क्षमामय होना चाहिये। एवं मानोदय को हटाने का प्रयत्न नम्रताभाव से, मार्दव से करना योग्य है। मायोदय का निवारण आर्जव-सरल भाव से करे, और इसी प्रकार लोभोदय के त्याग से मुक्ति-नि स्पृहता की परिणति होती है। जिससे ज्ञानादिगुण दीप्त हो, उसे उत्तम तप कहते हैं। वह सवर रूप है। इसमे स्वगुण भोग की मुख्यता है। स्वगुणो के ऊपर रहे कर्मावरण को तपाना-सुखा देना नष्ट कर देना वह तप निर्जरारूप है। इसमें वीर्य-शक्ति की मुख्यता है। तप बारह प्रकार का है :—

१. अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत्तिसक्षेप, ४. रसत्याग, ५. कायक्लेश ६. सलीनता। ये बाह्मतप हैं। १. प्रायश्चित, २. विनय, ३ वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५ ध्यान, ६. व्युत्सर्ग ये आभ्यन्तर तप हैं।

उत्तम सयम—क्षयोपमशम के न होने से जो पर-जड़-पुद्गलानुयायी रूप परिणाम हैं वे असयम हैं। साधकरूप से स्वगुणों के बाधक हैं। उन परिणामो को स्वसाध्य साधन मे परिणत करना सयम है। मनोवाक्काय योग व इन्द्रियो की दुष्प्रवृत्ति का निरोधरूप सयम सवर है।

उत्तम सत्य—सत्य, मृषावाद विरमण से होता है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान भाव-सत्य है। तत्पूर्वक वाक्य भी सत्य होता है। जिस आत्म स्वभाव या गुण का जैसा परिणाम है, वैसा होना सत्य-परिणति है।

उत्तम शौच—मानसिक अध्यवसायो को शुद्ध रखना। परवस्तु के विषय मे सकल्प विकल्प करने से मन अपवित्र होता है; अत पौद्गलिक पदार्थों के ग्रहण भोग आदि का विचार न करना मानसिक शौच है। इसी प्रकार वाचिक और कायिक पवित्रता के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिये। असत्य भाषण, वचन योग को अपवित्र करता है, तथा शारीरिक असयम से शरीर अशुद्ध बनता है। तीनो की अशुद्धता से आश्रव और पवित्रता से सवर है।

उत्तम आर्किचन्य—आत्मस्वरूप के बाधक परभावों के अग्रहण रूप परिणामो को त्याग कहते हैं। जो साधक अवस्था मे होता है। वस्तुत. मैं समस्त परभावो का अभावस्वरूप हूँ, "मुझे परभाव का ससर्ग करना योग्य नही" इस भावना से स्वगुणोपकरणो द्वारा परभाव का ग्रहण नही करते हुये, पूर्वगृहीत परभाव का अत्यन्त अभाव करने

के लिये, वाह्यसे सर्वसंगरहितता व अन्तरग से भी सर्व परभावों का अभोक्तृत्व आकिञ्चन्य है। मुझे जो असख्यातप्रदेश अमूर्त्त, चिन्मात्र स्वरूप हूँ, परभावों में ममत्व और उनका संग करना उचित नही है। अतः मैं सदा अकिंचन स्वरूप हूँ। मैं शुद्ध अध्यामस्वरूप, परिणामिक स्वभाव, परभावों का केवल ज्ञायक हूँ, अत. मैं परभावो का न ग्राहक हूँ न रक्षक।

उत्तम ब्रह्मचर्य :—परभावो से उत्पन्न वर्ण गन्ध रस और स्पर्श का भोग-मैथुन है। वही अब्रह्म है। उसका त्याग होने पर ही, आत्मिक आनन्द से एकरूप बनेहुए ज्ञानदर्शनचारित्रादि स्वगुणों का भोग होता है। मैं स्वरूपका भोक्ता हूँ। परभावका भोक्ता नही हूँ। स्वभाव भोगरूप वृह्मचर्य है, वह मेरा धर्म है। धारण करने योग्य है। अथवा परभावरमण के अभाव से स्वरूप मे रमणरूप तप है। परभावो का अग्रहण होने से त्याग, और परभावों का अरक्षण होने से वास्तविक आकिंचन्य है। तथा परभावो के अभोगरूप वृह्मचर्य हैं।

ये दश मुनि धर्म है। मुनियों की साधना के रूपों के भेद है। इनमें क्षमादि चार चारित्र के परिणाम हैं। तपः संयम सत्य और शौच, ये गुण संकर (मिश्र) परिणाम हैं। आकिंचन्य और वृह्मचर्य भी चारित्र के परिणाम हैं। इस प्रकार ये श्रमण धर्म जानने चाहिये। इन गुणो में परिणमन करता हुआ आत्मा अभिनव कर्म नही बांधता। तथा इन गुणों से परिणत व परिणमन के इच्छुक अपरिणत भी और गुणाभ्यारसिक, वारह भावनाओं से आत्मा को भावित करते हुये आत्मा भी नये कर्मों के अग्राहक होते हैं।

यहां कोई शंका करे कि भावनादि में तो अर्वाक्-पूर्व (षष्ठगुण स्थान से पहले प्रथम द्वितीय तृतीयादि) गुणस्थान वर्ती भी होते है वे अभिनव कर्मों के अवन्धक क्यों नही है ? उसका समाधान यो है :—

जितनी चेतनादि प्राग्भावी क्षायोपशमिकी शक्ति भावनानुयायि भावना वाले है वे ही अवन्धक हैं।

श्री भगवतीसूत्र मे कहा है :—

"तहारूवाण समणाण माहणाण तहारूवेण असणपाण खाइमसाइमेण पडिलाभेमाणे किं किज्जति ? एगंते सो निज्जरा क्रिज्जति नत्थि से पावकम्मे"

अर्थात्—तथारूप-भगवदाज्ञानुसारी श्रमणब्राह्मण को तथारूप-शुद्ध अशन पान खादिम स्वादिम का दान करता हुआ जीव क्या करता है? उत्तर.–वह एकान्तरूप से निर्जरा करता है पापकर्म नहीं बाँधता।"

यहाँ देशविरति श्रावक के ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय का ध्रुवबन्धकत्व होने पर भी मुनिको दान देने में प्रवृत्त होने से उपयोग, योग, वीर्यादि का अवन्धकत्व कहा है। शेष शरीरराग, परिग्रहराग, असंयमादि से तो उसके वन्धकत्व ही जानना चाहिये। इसप्रकार भावनादि मे जितनी जोवशक्ति की प्रवृत्ति है, उतनी सवर रूप है, शेप परभावादि मे प्रवृत्त शक्ति वन्धकारक है, यह आशय है।

अब द्वादशभावनाओ का स्वरूप कहते हैं :—

१ अनित्य भावना .—द्रव्यों का एकान्तरूप से नित्यत्व अनित्यत्व नही है। सभी द्रव्य, द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य है। संयोगी भाव तो नियम से अनित्यस्वभाववाले हैं ही। अत ऐसी भावना करनी चाहिये कि ये शरीर, धन, स्वजन भोगादि सभी अनित्य है। इन्हे इष्ट, प्रिय, स्थिर नही समझना चाहिये और न ममत्वबुद्धि रखनी चाहिये। इनकी अनित्यता का विचार या अनुप्रेक्षा अनित्यभावना है।

२. अशरण भावना :—संसार में धन स्वजन कुटुम्बादि, मेरे ज्ञानादि आत्मगुणो के रक्षक नही हैं। शरण लेने योग्य तो वे स्वरूप

रुचि परिणत, स्वरूपज्ञानी, स्वरूपभोगी, स्वरूप मे रमण करने वाले स्वरूपदर्शी आत्मा ही है, जो अर्हन्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और निग्रन्थ स्वरूप हैं। इनका आलम्बन लेकर आत्मा स्वस्वरूप विश्रामी, अव्ययानन्दभोगी, पुद्गलानुभवत्यागी और स्वात्मविभूतिवान् होता है। एव जन्म मरण शील आत्मा के लिये जो स्वय जन्मजरामरणादि दु.खो से पूर्णतया लिप्त है, वह शरण नही हो सकता। इसप्रकार विचार करते हुये ऐसा सोचना कि 'ससार मे कोई शरण नही है, अशरण भावना है। इस भावना से आत्मा को भावित रखने पर सदैव भयभीत आत्मा की सांसारिक भावों—मनुष्य या देवसम्बन्धी सुखो मे और गज, अश्व, सुवर्ण, रजत, मणिरत्नादि पदार्थों में आसक्ति या प्रीति नही रहती और वह तीर्थंकरप्रणीतशासन मे कहे हुये विशेष ज्ञान चारित्र आदि में प्रवृत्त होता है। आशय यह है कि ऐसा निश्चय करलेता है कि "मैं ही मेरा शरणरूप हूँ, अन्य कोई नही" ? आत्म धर्म की उपासना से ही मुझे सुख होगा !

३. संसार भावना :—संसार मे ससरण-भ्रमण करते हुए, अनन्तपुद्गलपरावर्तन काल से भटकते हुये, मैं किस-किस अवस्था को प्राप्त नही हुआ ? व्यवहारराशि को पाकर मैंने किस-किस से सम्बन्ध नही किया ? सभी अवस्थाओ मे रह चुका हूँ और सभी के साथ सम्बन्ध कर चुका हूँ। यहाँ मोहग्रस्त प्राणी विषयतृष्णा के कारण असह्य दु खों का अनुभव करते है। वास्तव में यह ससार जन्ममरण, हर्ष विषाद, सयोग वियोग, सुख-दु.खादि द्वद्वमय है। यहाँ दु ख अधिक व सुख स्वल्प है।

४. एकत्व भावना :—यहाँ संसार में भ्रमण करते हुये सुख नही। सुख तो स्वरूप-ज्ञानदर्शन रूप उपयोग के एकत्व परिणमन से है। अर्थात् स्वरूप में स्थित रहने में है। मैं आत्मा एक हूँ; पर—जड़ सगी

नही हूँ। वीतराग, वीतद्वेष स्वभाव वाले आत्माका कोई सगी-साथी नही होता।

५. अन्यत्व भावना —धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय ये सर्वद्रव्य अजीव हैं। ये सर्व मुझ से-जीव से अन्य भिन्न हैं। जीव यद्यपि अनन्त हैं, पर वे भी सब पृथकसत्ता वाले होने से मुझ से भिन्न हैं। इस प्रकार अन्यत्व की भावना करने से स्वरूप स्थिति होती है।

६. अशुचिभावना :—सभी पुद्गल एक-एक जीव के द्वारा अनन्तवार पहले भोगे हुये हैं। अत अत्यन्त अपवित्र हैं। उनमें राग रखने से मैं भी अपवित्र हूँ। तत्वत. चिद्रूप पवित्र है, उसमें रमण करना योग्य है।

७. आश्रवभावना .—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग-मनोवाक् काय रूप आश्रव है, वे त्याज्य हैं। मैं आश्रवो का कर्त्ता नही हूँ न आश्रव मेरे स्वभाव है।

८. सवरभावना '—ज्ञान दर्शन चारित्ररूप परिणाम सवर है। सवर मेरा धर्म है। मैं सवरवान् हूँ।

९. निर्जरा भावना :—पूर्वबद्ध कर्मों के क्षपण रूप निर्जरा है, वह स्वरूप कहलाता है। वह पूर्वगृहीत और अभिनव कर्मों का क्षय करने के लिए करणीय है।

१०. लोक स्वभाव भावना .—मैंने अजा नाटक[1] न्याय से सारे चतुर्दशरज्वात्मक लोक का अनन्तवार स्पर्श कर लिया है। अत. लोक परिभ्रमण मेरा धर्म नही है। मेरा लोक तो असख्यातप्रदेशो मे अनन्त-

---

[1] जैसे बकरी बाडे मे अनेक बार रखी जाने से सारे बाडे का स्पर्श करलेती है।

ज्ञान परिणति परिणामस्वरूप है, और उसका यथार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य संकर सहकार सहजवृत्ति से होना लोक है। वह मेरा धर्म है। अर्थात् आत्मा का अपना लोक असख्यात आत्मप्रदेशमय है। उसमें ज्ञानादिगुणो केपर्यायो का उत्पाद व्यय ध्रौव्य निरन्तर होता रहता है। उस लोक मे ही मुझे रहना है। वही मेरा वास्तविक लोक है। यह लोकस्वभाव भावना आत्मस्थिरता कारक है।

११ बोधिदुर्लभ भावना :—बोधि अर्थात् सम्यक्त्व, जो यथार्थ प्रतीतरूप तत्वश्रद्धा है, वह दुर्लभ है।

१२ धर्मभावना :—

लब्भइ सुरसामित्तं लब्भइ पहुअत्तण न सदेहो ।
इक्को नवरि न लब्भइ, जिणदवर देसिओ धम्मो ॥

अर्थ :—इस संसार में भ्रमण करते हुये आत्मा को शुभ कर्मोदय से सुरस्वामित्व, इन्द्रत्व मिल सकता है, और मनुष्यजन्म मे भी प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है। किन्तु तीर्थङ्कार भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

आत्मस्वभाव ही धर्म है, और उस धर्म को प्रकट करने में हेतुभूत धर्म श्रुत और चारित्र स्वरूप है। उसके साधक निर्ग्रन्थादि है। देशविरति सर्वविरति के योग्य भगवदाज्ञा पालन व विरति आदि के परिणाम-भाव, अत्यन्त दुर्लभ हैं। ये द्वादश भावनाएँ हैं। आत्मधर्म के साधन के कारण होने से ये धर्मरूप संवर के भेद हैं।

पदार्थों की परिणति जिस प्रकार परिणत होती है, उसी प्रकार परिणत होती हुई स्थित होती है। अतः छह द्रव्यों मे से चार—(धर्म, अधर्म, आकाश और काल) द्रव्यो के सदैव अवस्थित परिणति वाले होने से आश्रव नही है। पुद्गल द्रव्य की पुद्गलो के स्कन्धरूप से

परिणति होती है; तथापि कर्त्तृत्व का अभाव होने से आश्रव नही होता। जीव के तो पुद्गल भोक्तृत्वादि परिणति से व अयथार्थ कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि की परिणति से आश्रवता (कर्मों का आगमन) है। उस परिणति के अभाव में अनाश्रवता है। अतः अनादिकाल से सम्पन्न मिथ्यात्व व असयमरूपसे आत्मा का परिणमन होने से परभाव ग्राहकर्ता-रूप परिणति है। वही आश्रव परिणति है और परग्राहकता आश्रव है। पुद्गलो का स्वक्षेत्र–आत्मप्रदेशो मे लोलीभाव करना विपर्यस्त है—विरुद्ध कर्त्तृत्व की परिणति है। उससे विरुद्ध अबन्ध रहकर स्वरूप का ग्रहण सवर है, और स्वरूप मे अवस्थिति हो जाना मोक्ष है।

यथावत् सतोगुण प्राग्भाव लक्षण देशत मोक्ष है, तथा अयोगिगुण स्थान के चरम समय मे यही सर्वत्र. मोक्ष है। अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर अयोगीगुण स्थान से पूर्व देशतः मोक्ष और चौदहवें गुण स्थान के अन्तिम समय मे सर्वत. मोक्ष होता है। यही बात आचाराग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के विमोक्षाध्ययन की टीका में कही है–

"सपत्ते सम्मत्ते अणाइ मिच्छत्तदोस विणासे।
तत्तरुइ निद्धारे, अतत्त चाए भ निद्धारो॥"

अर्थ—अनादि मिथ्यात्व दोष का विनाश होने पर सम्यक्त्व की सम्प्राप्ति होती है। तत्वरुचि का निश्चय, अतत्वरुचि का त्याग होने पर होता है। इसे निर्द्धार कहते हैं।

इस वाक्य से आत्मा सम्यग् दर्शन प्रकट होने पर विरुद्ध निश्चय रूप मिथ्यात्व को त्याग देता है। तत्व अर्थात् आत्मस्वरूप मे ही तत्व-सारत्व का ही निर्द्धारण करता है, और अतत्व–पुद्गलादि भोग को करता हुआ भी 'इनके त्याग मे ही मेरा हित है', ऐसा निश्चय कर लेता है। सम्यग् दृष्टि जीवो की परभाव मे प्रवृत्ति तप्तशिला पर पाँव

रखने के समान ही है; अतएव परभाव को असारत्व लक्षण जानने से कर्मबन्ध नही होता। वह ४१ प्रकृतियो का अवन्धक है। उसके नरक, तिर्यक् गति में जाने के हेतु भूत आश्रव का निरोध करना, इतना सवर है। कर्म स्थिति मे भी मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोयम की स्थिति में से ७६ कोटाकोटि का अबन्धक है। सम्यग्दृष्टि भावना रखता है, कि सर्व पौद्गलिक परभाव मेरे नही हैं, न मैं उनका हूँ। 'परभाव से ससर्ग रखना ही ससार है। इस प्रकार के परिणाम और ससार का उच्छेद करने वाली रुचि वाला व्यक्ति, परभाव के एकत्व रूप को उत्पन्न करने वाले कर्म का आश्रव नही करता; अत उसके उतना तो संवर है ही ? बाँधती हुई सर्व प्रकृतियो मे उत्कृष्ट एक कोटा कोटि सागरोपयम का ही बन्ध है। अत प्रथम सम्यक्त्व सवर है।

द्वितीय सम्यग्ज्ञान सवर है। वह विपर्यास भासन (गलत समझ) के नष्ट होने पर यथार्थ भासन प्राग्भाव मे सम्यग्ज्ञान है। उसमें शुद्धदेव, शुद्धगुरु और शुद्ध धर्म के भासन से अशुद्ध देवादि मे प्रवृत्ति नही होती। सर्व ज्ञेय पदार्थो का यथार्थ अववोध ज्ञान का स्वधर्म है। अत जिस ज्ञान गुण का जो कार्य है, वह वैसा करता हुआ, नये कर्मों का आश्रव नही करता। यों यथार्थ ज्ञान भी सवर है। तथा सम्यक् चारित्र संवर स्वरूप रमण में एकत्व स्थिरता लक्षण चारित्र रूप है। स्वरूपाभिलाषियो के परभाव का त्याग होता ही है। पूर्ण ही परभाव का त्याग होने पर स्वरूप रमणता में नये कर्मों का ग्रहण नही होता; अत सम्यग् चारित्र के परिणाम सवर हैं। वहाँ ऐसी भावना रहती है—कि ये पुद्गलादि परभाव मेरे नही है; न मैं इनका स्वामी हूँ। इस प्रकार के उपयोग से आत्मा को परभावो के ग्राहकत्व मे नही लगाता। भिन्न स्वभाव वाली भावना से आत्मा व जड़ को भिन्न करने मे तत्पर रहने और पर का त्याग होने से तद्धेतुक कर्म वन्ध भी नही

होता। इससे चारित्र भी संवर है। अतः शुद्ध आत्मा के उपलम्भ (प्राप्ति) से ही सवर है, क्यो कि जब यह आत्मा धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को उपलब्ध करता हुआ रहता है; और आत्मा आत्मा को आत्मज्ञान से आत्मार्थ आत्मा से आत्मा में परिणत करता रहता है; तब सवर परिणत आत्मा नये कर्म स्कन्धो को ग्रहण नही करता है। यह सवर किस प्रकार से होता है इसे स्पष्ट करते हुये कहते हैं—

"अप्पाण मप्पणा हाविऊण थभीऊण सुभासुभेहिं हेउहिं।
दसण णाणम्भि ठिओ इच्छा रहियो पर पयम्भि ॥ ७ ॥

जो सव्व सग रहियो झायेइ अप्पाण मप्पणो अप्पा।
णवि कम्भ णोकम्भ आयाणाएइ एगत्त ॥ ८ ॥

व्याख्या—जो प्राणी-साधकजन रागद्वेष मोह मूल शुभाशुभ बन्ध हेतु स्थान मे वर्त्तमान दृढतर भेद-ज्ञान के आधार से आत्मा उन हेतुओ में अवस्थित आत्मा को आत्मा मे ही दृढता से स्थापित करके-शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप आत्मद्रव्य मे भली प्रकार से प्रतिष्ठित करके, समस्त परद्रव्यों की अभिलाषाओ के त्याग द्वारा समग्र संग से विप्रमुक्त होकर सदैव भाव से निष्प्रकम्य होता हुआ किञ्चिद् भी कर्म और नोकर्म का रस स्पर्शादि न करता हुआ, आत्मा को आत्मा में ही ध्याता हुआ, स्वयं सहज चेतन होने से एकत्व का ही चिन्तन करता है। वह निश्चय से एकत्व चिंतन से परभावो से पूर्ण विभक्त, मात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा का चिन्तन करता हुआ, शुद्ध दर्शन, ज्ञान मय आत्मद्रव्य को प्राप्त करता है। शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होने पर समस्त परद्रव्य मयत्व को अतिक्रान्त (उल्लघन) कर देने वाला संवरी हो जाता है। उस सवर के साथ एकत्व होने से शुद्ध ध्यान में एकाग्र और पूर्वोदय मे अव्यापक होता हुआ, शीघ्र ही सकल कर्मों से मुक्त आत्मा को प्राप्त हो जाता है।

कहा भी है कि—

निज सहज समाधौ शुद्धसज्ज्ञानशक्त्या,
प्रकटति ध्रुवमेषां वस्तुतत्वोपलम्भ ।
अचलित निजभावे भिन्न भूतः परेषु,
न भवति नवबन्ध. क्षीयते पूर्वकर्मः ॥५॥

अर्थ—शुद्धसम्यग्ज्ञान की शक्ति से निजसहज समाधि मे लीन इन साधक जनों को निश्चय से वस्तुतत्व (आत्मा) का ज्ञान प्रकट हो जाता है और समस्त पर-जड़-कर्म भावो मे भिन्नता हो जाती है । फलस्वरूप नयाबन्ध नहीं होता और पूर्व कर्म का क्षय हो जाता है ।

जब तक आत्मा के साथ जीव और कर्म के एकत्व के विश्वास अध्यासमूल मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान और योगलक्षण अध्यवसाय हैं। वे रागद्वेष मोहलक्षण आश्रव भाव के हेतु हैं और आश्रवभाव कर्म के हेतु हैं। कर्म शरीरादि विपाक-फल के हेतु हैं तथा शरीरादि का राग ससार का कारण है। अतः यह आत्मा सदा ही कर्मों की आत्मा के साथ एकता के मिथ्या निश्चय से मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, कषाय, प्रमाद और योगमय आत्मा को जानता है । अर्थात् 'यही मैं हूँ' ऐसा भान होता है। इसी अज्ञान के कारण रागद्वेष मोह-रूप आश्रवभाव से आत्मा को भावित करता रहता है। इस से कर्मों का बन्ध होता रहता है और जीव शरीरादि धारण करता हुआ संसार भ्रमण की परम्परा बढ़ाता है। जब आत्मा तथा कर्म के भेद विज्ञान से शुद्ध चैतन्य स्वरूपमात्र आत्मा को जान लेता है, तब मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग लक्षण अध्यवसाय व आश्रव भाव के हेतुओं का अभाव हो जाता है। फलस्वरूप रागद्वेष मोहादि नहीं होते। इनके अभाव मे कर्म नोकर्मादि-शरीरादि का अभाव होता है । कर्म नोकर्मादि के अभाव मे क्रमशः ससार भ्रमण घटता है। इस प्रकार से संवर का क्रम है। कहा भी है.—

"सम्पद्यते संवर एष साक्षा च्छुद्धात्मतत्वस्य किलोपलम्भात् ।
सद्भेदविज्ञानत एव तस्तात्. तद् भेदविज्ञान मतीव भाव्यम् ।६।

अर्थ —शुद्ध आत्मतत्व के ज्ञान से, जो उत्तम भेदविज्ञान से होता है; ऐसे उस उत्तम भेदविज्ञान से ही साक्षात् संवर प्राप्त होता है। भेदविज्ञान की सदैव भावना करनी चाहिये ।

"भावयेद् भेदविज्ञान मिदमच्छिन्नधारया ।
तावद् यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते ।।७।।

अर्थः—यह भेदविज्ञान तब तक अविच्छिन्न धारा से करना चाहिये, जब तक कि अज्ञान से हटकर ज्ञान में प्रतिष्ठित नही हो जाय ।

"इत्येव प्रविभज्य स्वात्मपरता तत्वैकतां येगता,
स्तेषां चेतनता न याति परता शुद्धात्म भावे रता. ।
सन्तस्ते न लभन्ति कर्मपटल पूर्वं दहत्यज्जसा,
शुद्धस्वीयसमाधिसाधनपराः सिद्धिं रमन्तेतराम् ।।८।।

अर्थः—यो आत्मा और पर-जड़ कर्म नोकर्म आदि का उक्त प्रकार से अपने आत्मा से पूर्णतया भेदकरके जो साधक तत्व आत्मतत्व की एकता को प्राप्त होते हैं, वे शुद्ध आत्मभाव में रम जाते है और उनकी चेतना, पर- जडभाव को प्राप्त नही होती। ऐसी स्थिति मे होने से कर्मपटल-समूह का आना रुक जाता है और पूर्वसञ्चित कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अपनी शुद्ध समाधि साधन मे तल्लीन रहने वाले परमसिद्धि में रमजाते हैं।

इति श्री अध्यात्म प्रबोध अपरनाम देशनासार ग्रन्थ
का पांचवां संवराधिकार ।।

❀ अथ षष्ठः निर्जराधिकारः ❀

अब निर्जरा का स्वरूप दिखलाते हैं:—

मिथ्यात्वाश्रववाणान्निजपदे तिष्ठन् परः संवरः,
रागद्वेषविमोहरगरहितो भुञ्जन् विपाकं स्वकम् ।
प्राक् सत्तागतकर्मपुंजदलने तत्वैकता सञ्चरन्,
या कर्मक्षयकारणा परिणतिस्सा निर्जरा गीयते ॥१॥

अर्थः—आत्मा जिस समय मिथ्यात्वादि के आश्रव को हटा देने से श्रेष्ठ सवर में स्थित रहता हुआ रागद्वेष विमोह के रंग से विहीन अपने विपाक को भोगता हुआ, आत्मतत्व की एकता में सञ्चरण करता हुआ, पूर्व में सत्तागत कर्म समूह को दलन करने मे तत्पर रहता है। उस समय की जो कर्मक्षय करने की परिणति है, वह निर्जरा कहलाती है।

विरागवान् आत्मा के जो कर्मोदय होता है, वह निर्जरा के लिये होता है। और रागादि के सद्भाव वाले आत्मा के मिथ्यात्व असंयम मय होने से कर्मोदय तथा भोग बन्धनिमित्त ही होते हैं। रागादिभावों के अभाव में कर्म का उदय और भोग दोनो ही सम्यग-दर्शनज्ञानचारित्र परिणत आत्मा के निर्जरा के निमित्त बन जाते हैं।

अब भाव निर्जरा का स्वरूप कहते हुये बतलाते हैं—

कम्मे उपभुजंते नियमा जायंति सुह व दुक्खं वा ।
तत्त अरागदोसो वेदतो निज्जर कुणाइ ॥१॥

अर्थ—कर्मदलिको को भोगते हुये उनके निमित्त से साता या असाता के अतीत विकल्परूपों को अनतिक्रम से वेदते हुये जीव के सुखरूप या दुःखरूप नियम से परिणाम उदय होते हैं और वे रति अरति रूप रहते हैं। उस समय मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि भावो के

सद्भाव से भोगे जाते हुये, नये कर्मदलिक मात्र का क्षरण और उन कर्म-दलिकों से असख्यातगुण नये कर्मदलिको का बन्ध ही होता है, निर्जरा नही होती। अत. मात्र बन्ध कहलाता है, और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र वाले आत्माओ के तो रागद्वेषादि मे अव्याय व्यापकत्व से व रति अरति के अभाव मे बन्ध निमित्त का अभाव होने से केवल निर्जीर्यमाण निर्जीण होते हैं, अतः निर्जरा ही होती है।

अहो ज्ञानस्य सामर्थ्यं विरागस्यैव वा पुनः।
भुञ्जन्तो कर्मभोगानि तद् भिन्न सन् न वध्यते ॥२॥

अर्थः—अहो! ज्ञान का अथवा विराग का सामर्थ्य देखिये कि आत्मा कर्म के भोगो को भोगता हुआ भी, कर्म से भिन्न होने से नही वँधता। इसे उदाहरण द्वारा समझाते हैं—

जैसे कोई विषवैद्य–जाङ्गलिक अन्यजीवों का विप जो मार देने वालाहै, उसे स्वय चूसता हुआ भी अपनी अमोघ (अव्यर्थ) विद्या वाला है,के सामर्थ्य से विष की शक्ति का निरोध कर देने के कारण मरता नही है; वैसे ही ज्ञानो के भी पुद्गल कर्मोदय को भोगता हुआ भी अमोघज्ञान के सामर्थ्य से राग द्वेषादि दोषो का अभाव होने पर रागद्वेषादि की शक्ति का निरोध हो जाता है। फलतः वँघता नही। तत्वज्ञान विहीन आत्माओ के रागादि का सद्भाव है अतः विपाक का भोग बन्ध का कारण बनता है।

ज्ञानवान् विरक्त आत्मा के अत्यन्त निर्जरा होतो है, उसे वतलाते हैं.—

जैसे[1] मद्य पीता हुआ व्यक्ति यदि अरति से पीता है, तो उसे मद (नशा) नही होता। वैसे ही द्रव्य उपभोग में ज्ञानी को अरति रहने से वह भी वँधता नही, प्रत्युत निर्जरा ही करता है।

अब पुन, इसे ही दिखलाते है,—

कुव्वतो बिन न कीरइ अकुव्वतो वि को वि कोरइ ।
पगरण चेस्टा क स्स विण पायरणोत्ति सो होइ ।। २ ।

अर्थ—जैसे कोई विवाह करना न चाहने वाला भय से विवाह के कार्य करता हुआ प्रकरण व्यापार में व्यापार (कार्य) करता हुआ भी प्रकरण स्वामित्व के अभाव मे उस प्रकरण का स्वामी नही हो जाता और प्रकरण स्वामी तो प्रकरण कार्य मे व्यापार (कार्य) न करता हुआ भी उसका स्वामी होने से वही प्राकरणिक कहलाता है ।

इसे थोडा स्पष्टता से यो समझे— किसी के घर विवाह होता है । विवाह सम्बन्धी विभिन्न कार्य पृथक्-पृथक् व्यक्तियो को सौप दिये जाते हैं । वे उन-उन कार्यों को करते व अन्य जनों से करवाते है, परन्तु उसे अपना कार्य नही समझते; क्योकि वे स्वामी नही है । स्वामी तो जिसके घर विवाह है, वही है । और यश. अपयश हानि-लाभ आदि का भागी भी गृह स्वामी ही होता है । वैसे ही सम्यग्दृष्टि आदि गुणों से युक्त आत्मा भी पूर्व सचित कर्मों का उदय होने पर विषयादि विपाको का सेवन करता हुआ भी रागादि भावो के असद्-भाव में उनके सेवन मे स्वामित्व का भाव न होने से सेवन करने वाला नही है । मिथ्यादृष्टि के तो विषयो का सेवन करते हुये रागादि भावो के होने से सेवन फल का स्वामित्व है, अत सेवन करने वाला है ।

---

[1] यह दृष्टान्त उपयुक्त नही लगता क्योकि मद्य का मद तो चढता ही है ।

जैसे निर्ग्रन्थो के आहारादि करने पर भी शरीरपोषण के हेतु का अभाव होने से निर्जरा ही है, बन्ध नही : यह जानना चाहिये । सम्यग्दृष्टि तो सामान्यतया अपने को अपना और पर को पर जानता है । यह बतलाते हैं—

उदय विवागो विविहो कम्माण भासियो जिणदेहिं ।
णहु ते मज्झ सहावो जाणग भावी अह सुद्धो ॥ ३ ॥

अर्थ— जो जिनेन्द्र कथित कर्मोदि के विपाक से होने वाले विविध भाव है, वे मेरे स्वभाव नहो है । जो पर पुद्गलानुयायी स्वधर्म में अप्रवृत्तिरूप वन्धादि अध्यवसाय है, वे मेरे स्वभाव नही हैं । और जो अनादि समवाय सम्बन्ध से स्थित ज्ञानादि स्वगुण हैं, वे मेरे हैं । मैं उन ज्ञानादि स्वरूप हूँ । यही टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप मैं हूँ । ऐसा जानता हुआ कर्मो से बद्ध नही होता और पूर्वबद्ध की निर्जरा होती है ।

पुनः इसी को स्पष्ट करते हैं—

पुग्गल कम्म निमित्त, रागविबागोदयो हवइ एसो ।
ण हु ते मज्झ सहावो, णायग भावो हु अह मिक्को ॥४॥

अर्थ—राग निश्चय से पुद्गलकर्म है पुद्गलकर्म के विपाकोदय से उत्पन्न यह राग रूप भाव है; तथापि यह मेरा स्वभाव नही । मैं तो सोलह बार तपाये हुये शुद्धसुवर्णवत् मात्र ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ ।

इसी प्रकार प्राणातिपातादि (हिंसादि) पापस्थान, मनोवाक् काययोग, पाँच इन्द्रियों के विपयग्रहण आदि ये सर्व भी मेरे स्वभाव नही है। मैं तो शुद्ध स्याद्वाद परिणामो से परिणत ज्ञानदर्शनादि अनन्त शक्तिमय, अरूपी, अखण्ड, चिदानन्द स्वरूप हूँ । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि स्वयं को जानता हुआ और रागादि को छोडता हुआ, नियम से ज्ञान वैराग्य सम्पन्न होता है । इसे ही कहते हैं—

एवं सम्मदिट्ठी अप्पाण मुणइ सुद्ध उपओगी ।
सजोगभाव भाव मुच्चइ तत्तं वियाणतो ॥५॥

अर्थ— इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सामान्य और विशेप से स्वपर-

स्वरूप सर्व भावो से बिवेचना करके टकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक स्वभाव वाले आत्म तत्व को पूर्णरूप से जानता है; तथा स्याद्बादपूर्वक यथार्थता से तत्व को जानता हुआ स्व पर भावो का पृथक्त्व करके, स्व के वास्तविक रूप को बढाता हुआ, कर्मोदय के विपाक से उत्पन्न भावो को जानकर, सभी को छोड देता है। तत्पश्चात् वह आत्मा नियम से ज्ञानवैराग्य सम्पन्न हो जाता है।

सम्यग्दृष्टिः स्वमात्मान जानन्नैवात्र बन्धते ।
मिथ्यादृष्टि परं स्वीयमजानश्चर बन्धते ॥ ३ ॥

अर्थ—सम्यगदृष्टि अपने आत्मा को जानता हुआ ससार मे बँधता नही है। और मिथ्यादृष्टि स्व और पर को न जानता हुआ बँध जाता है।

यहाँ कोई शका करे कि सम्यगदृष्टि परभावो का रागी क्यो नही होता ? उसका समाधान करते हैं—

परमाणुमित्तय पि हु, रागादीना तु जो निय वेई ।
ण य सो जाणई अप्प वेदण, नाण सजुत्तो ॥ ६ ॥
अप्पाण मयाणतो अणप्पयं चा वि सो अयाणतो ।
कह होइ सम्मदिट्ठी जीवाजीवे आयाणतो ॥ ७ ॥

अर्थ.—जो रागादि अज्ञानमय भावों के लेशमात्रभाव को अपना जानता है। स्वसवेदनज्ञान के अभाव के कारण उसका ज्ञान अयथार्थ है। श्रुत के अभ्यास से युक्त होने पर भी वह आत्मा को नही जानता। और जो आत्मा को नही जानता, वह पर को भी नही जानता। स्व सत्ता या परसत्ता इनमें से एक का भी निर्धारण न होने से जो स्वीय-आत्मा के और पर-पुद्गल (जड़) के भावो को नही जानता, वह जीव अजीव को भी न[illegible]ता। [illegible] यथार्थज्ञान के अभाव मे आत्मा स [illegible] है:—

"जो जीवे वि वियाणेइ अजीवे वि वियाणेइ ।
जीवाजीवे वियाणतो सो हु नाही इ संजम ॥ १ ॥
("दशवैकालिक ४ अध्ययन")

तथा उत्तराध्ययन मे—

एग पचविह नाणं दव्वाणय गुणाणय ।
पज्जवानय नाणेण नाणं नाणीहिं देसिय ॥" ॥ २ ॥

अर्थः—जो जीव को भी जानता है, अजीव को भी जानता है। जो इस प्रकार जीव अजीव दोनो को जानता है, वह संयम को भी जानता है। इस प्रकार ज्ञान के पाँच भेद हैं। द्रव्यो को, गुणों को तथा पर्यायो को जानने से ज्ञानियो ने ऐसे ज्ञान को ज्ञान कहा है।

इस प्रकार वस्तुतत्व को जानने वाला ही ज्ञानी है, अन्य नही।

"अनादि संसारप्रचारशीला, न रागादिभावान् स्वकीयान् विजानन्।
सम्बध्यते कर्म पदैरनेकै स्तस्माच्च मिथ्यात्वपद त्यजध्वम् ॥"

अर्थः—जो मिथ्यादृष्टि आत्मा है, वह अनादि काल से ससार मे भटकने के स्वभाव वाला है। और रागादि भावो को अपना जानता हुआ अनेक कर्मपद समूहो से सम्बद्ध होता है। अर्थात् कर्मों से बँधता है। अतः मिथ्यात्व पद को छोड़िये।

वास्तव मे जो आत्मा अपने अनन्त और अनैकान्तिक भावो को जानता हुआ व स्व से भिन्न सभी परभावो को पररूप जानता हुआ, स्वपद मे पूर्ण रमण करने वाला होता है, वह शुद्ध संवर वाला है और जीर्ण कर्मदलिको की निर्जरा करता है। शुद्ध आत्मा का स्वरूप आचाराङ्ग सूत्र मे ऐसा वतलाया है:—

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गहिया, ओण, अपइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरसे

न परिमडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिछे न सुक्किले न सुरभि-गधे न दुरभिगधे न, तित्ते न कडुए न कसाए न अ बिले न महुरे न कक्खडे न मउए, न गुरुए न लहुए, न सीएं न उन्हे, न निद्धे न लुक्खे, न-काऊ न रुहे न सगे, न इत्थी न पुरिसे, न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न व विज्जए, अरुवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि (सू. १७०)

(लोक॰ अध्य० ५, उद्देशक ६)

भावार्थ—उस आत्मा को कहने में सभी स्वर असमर्थ हैं। इस विपय मे—आत्मा के सम्बन्ध मे कोई तर्क नही चलता। अर्थात् आत्मा अक्षरो, स्वरों व तर्क्क से अतीत है। बुद्धि भी उसे ग्रहण नही कर सकती। वह ओज रूप, अर्थात् समस्त मलकलक से रहित है। वह औदारिक शरीरादि से विहीन, अर्थात् सर्व कर्म से मुक्त खेदज्ञ केवल ज्ञानयुक्त है। उसका कोई सस्थान—दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, त्र्यंस, चतुरस्र और परिमण्डल, नही है। वह आत्मा वर्णरहित है। अर्थात् आत्मा काला, नीला, रक्त, पीला और शुक्ल नही है। वह गन्धरहित-सुगन्ध दुर्गन्ध विहीन है। रस—तिक्त, कटुक, कपाय, आम्ल मधुर रूप नही हैं। आत्मा का कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध रुक्ष आदि कोई स्पर्श नही है। वह आत्मा सर्व कापोतादि लेश्याओ से रहित है, अथवा काऊ शब्द से शरीर भी लिया जाता है, आत्मा के शरीर नही है। न रुहे—अर्थात् पुन. उत्पन्न होने वाला नही है। सग रहित है। न स्त्री है, न पुरुष है। न अन्यथा—नपु सक है। परिज्ञ—सर्वज्ञ-सज्ञ सर्वदर्शी है। उसे समझाने को कोई उपमा नही है। आत्मा की सत्ता अरूपी है। उस अपद का कोई पद नही है; क्योंकि आत्मा अमूर्त्त है।"

इस प्रकार आत्मज्ञानी सर्व पर भावो को आत्मा के नही जानता है। आत्मज्ञानी के अनेक का उपभोग होने पर भी, परवस्तु में आत्मभाव

है। ज्ञान ही वास्तविक आत्मस्वरूप है। वही आत्मधर्म है। पर-आत्मा का स्वरूप नही। कहा भी है—

"एकमेव हितत्स्वाद्य विपदामपद पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि तत्पुर ॥ ५ ॥

अर्थ—वह आत्म एक ही स्वाद्य है, जो समस्त विपदाओ का ान नही है। वह स्वय पद रूप है। उसके सम्मुख अन्य सर्वपद अपद ासित होते हैं।

"शुद्धात्मभावरसनिर्भर भोगयुक्त,
स्त्यक्तान्य भोग परवस्तुनि निर्विकल्प ।
स्वात्मावबोध विशदाखिलविश्वभाव
स्वीय पद विलसति प्रकटात्मयोगी ॥ ६ ॥

अर्थ—एक मात्र शुद्ध आत्मभाव रस के भोग से युक्त, और सरी परवस्तुओं के भोग को त्याग देने से निर्विकल्प, अखिल ससार समस्त भावो और आत्मभाव को पूर्णरूप से जानने वाला आत्मयोग जसके प्रकट हो गया है, ऐसा योगी अपने स्वरूप मे विलास करता। अर्थात् स्वरूप को भोगता है।

मइयाइया नाणा सवियप्पा भिन्ननेय विन्नाणा ।
पत्ते केवलनाणे एगमिसव्व विन्नायी ॥ ८ ॥

अर्थ—आत्मा ही श्रेष्ठ अर्थ है। और आत्मा तथा ज्ञान गुणी ण भाव से होने पर भी स्थान परिणाम से एक ही पदार्थ है। अतः ान भी एक ही पदार्थ है। यही परमार्थ है, साक्षात् मोक्ष का उपाय । ज्ञान के जो मतिश्रुतादि भेद हैं; वे भी क्षयोपशमिक समय मे ही भिन्न प्रवृत्ति वाले है, परन्तु क्षायिक अवस्था मे निर्मल केवल ज्ञान का प्रादुर्भाव होने पर उसी के अन्तर्गत हो जाते हैं। साराश यह है कि मतिज्ञानादि के रूप मे वही ज्ञान क्षायोपशमिक होने से अशतः प्रकट

होता है, और केवलज्ञान का प्रादुर्भाव ज्ञानावरणीय के पूर्णतः क्षय होने पर होता है । अतः पूर्ण ज्ञान क्षायिक अवस्था मे होता है । निम्न उदाहरण से इसे स्पष्ट समझने मे सुगमता होगी—

जैसे गहरे बादलो से ढँके हुये सूर्य का प्रकाश उन मेघों के विघटन के अनुसार कम या अधिक अवश्य हो जाता है; पर सर्वथा प्रकाश स्वभाव को बादल नष्ट नही कर सकते । वैसे ही आत्मा के ज्ञानवरणादि कर्मपटल का विघटन होने पर उसी के अनुसार ज्ञान शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । कर्म आवरण के हटने पर कर्म ज्ञान और अधिक आवरण के दूर होने पर अधिक ज्ञान प्रकट होता है; किन्तु आवरण से ज्ञान सर्वथा नष्ट नही होता । मात्र प्रकाश मे कमी बेशी होती है । ज्ञान के भेदो के होने से ज्ञान-स्वभाव का भेद नही हो जाता; प्रत्युत वे भेद ज्ञान की विशेषता ही प्रकट करते हैं । अत समस्त भेदो को हटाकर आत्म स्वभावभूत एक मात्र ज्ञान का आलम्बन लेकर उसी आलंबन से स्वपद की प्राप्ति होती है; भ्रान्ति नष्ट होती है । आत्मलाभ होता है, अनात्मभाव का परिहार होता है । कर्म आत्मा को मोहित नही करता, रागद्वेष मोहादि दोष उत्पन्न नही होते, न कर्म का आश्रव पुनः होता है, और न कर्म आत्मा को बाधित करता है । पूर्व में बँधे हुये कर्म भोग कर या प्रदेश तथा विपाक से निर्जीर्ण हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाता है । पुनः ज्ञान का महत्व बतलाते हैं—

णाण विहीणा न लहंति, संवरनिज्जरपयं जिणदुत्तं ।
त गिण्हह भो भव्वा जइ इच्छह सिद्धिसब्भावे ॥ ८ ॥

व्याख्या—ज्ञान यथार्थ तत्वाववोध रूप है । उस ज्ञान से विहीन जन इस स्वात्माववोध लक्षण संवर निर्जरापद को जो जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित है, नही प्राप्त कर सकते । अतः हे भव्यजीवो । यदि सिद्धि

का सद्भाव चाहते हो तो उस सवर निर्जरात्मक आत्मज्ञान को ग्रहण करिये। क्योकि जब तक आत्म प्रदेशों पर ज्ञान को आवृत्त (ढकने) करने वाले ज्ञानावरणीयादि कर्मों का आवरण आया हुआ है तव तक स्व पर को नही जान सकता। वह आवरण ज्ञानरुचि से हटता है। आवरण के अभाव होने पर शुद्धज्ञान से ही स्वरूप का प्रकाशन होने से स्वरूप की उपलब्धि होती है। वहुत से साधक वहुत प्रयत्न करके भी ज्ञानशून्य होने से स्वरूप को प्राप्त नही कर पाते। फलस्वरूप कर्मों से भी मुक्त नही हो सकते।

अत मोक्षार्थी प्राणी को सर्वज्ञ भगवान् के वचनो का अवष्टम्भ (सहारा) लेकर ही आत्म स्वरूप की उपलब्धि करनी चाहिये। इस अवष्टम्भ अर्थात् सर्वज्ञोक्त ज्ञान के बिना आत्म स्वरूप का ज्ञान नही हो सकता।

पदमिद परतो हि दुरासद,
सहज तत्वविदा सुलभ स्मृतम्।
भवतु भव्यजना ! निजबोधभृत्,
भवति येन महोदय मुत्तमम् ॥७॥

अर्थ — यह आत्मस्वरूप का ज्ञान तत्वज्ञान के विना अथवा सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य के वचनो से प्राप्त होना दुर्लभ है। सहजतत्व-ज्ञानियो को सुलभ माना गया है। अत भव्यजनो ! आप आत्मज्ञानी वनो, जिससे उत्तम और महान् उदय हो अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति हो।

आयमि रओ णिच्च सतुट्ठोहोउ आयभावमि।
णिय धम्मि त्ति त्तस्सउ भवदि णिय मुत्तमं सुक्ख ॥१०॥

व्याख्या.— आत्मज्ञानी होने पर अर्थात् शुद्ध अनेकान्त अनन्त-गुणपर्याय परिणाम स्वभाव आत्मा के ज्ञानानन्दरूप का निश्चय करके चिदानन्द मे ही सदा रत रहो, उसी मे सन्तुष्ट रहो ! आत्मधर्म के अनुभव मे तृप्त बनो, इस प्रकार आत्मरत, आत्मसन्तुष्ट व अनुभवतृप्त

आत्मा को वचनातीत सुख होगा और तब इस आत्मतत्व को स्वयं ही देखोगे, और भोगोगे। ऐसा होने पर सर्व परभाव प्रसङ्ग को ब्राह्य और आभ्यन्तर दोनो रूप से हटा कर परम आर्य—सर्वज्ञभाषित रत्नत्रयी—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप मार्ग मे प्रवृत्ति होगी। यह आत्मज्ञान को महिमा है।

अब ज्ञानी के पद का ग्रहण क्यो नही होता ? इसे समझाते हैं, भावना करते हैं:—

जह को वि हु सप्पुरिसो परदव्व मामग नवि कुणइ।
तह सप्पुरिसो पारय अगिण्हमाणो न वधइ ॥ १॥

व्याख्या:—जैसे कोई सत्पुरुष परिनिश्चित परद्रव्य—धनादि परवस्तु मे यह मेरा है, ऐसी वुद्धि नही करता। वैसे ही सम्यग्ज्ञानादि गुण युक्त सत्पुरुष भी आत्मक्षेत्र के अवगाह से भिन्न अर्थात् 'ज्ञानादि जो आत्म क्षेत्र स्थित हैं, उनसे भिन्न सभी अग्राह्य है,' ऐसा जानता हुआ कर्मवन्ध नही करता। विपाक के उदय को भोगता हुआ भो उसमें अव्यापक रहता हुआ निर्जरा करता है, यह जानना चाहिये। क्योकि ज्ञानी जानता है, कि जिसका जो स्वभाव है, वही उस स्वभाव का स्वामी है। अर्थात् सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावके स्वामी हैं। इस प्रकर तत्व दृष्टि के सहारे या आलम्वन से आत्मा के स्वरूप को अपना धन जानता हुआ, केवल स्वरूपग्राही होता है। (परद्रव्य को) यह मेरा नही है' और 'न मैं इसका स्वामो हूँ' ऐसा मान कर उसमे न रमता है, न ग्रहण करता है। यदि परद्रव्य—जो जड कर्म अजीव रूप है, उसे ग्रहण करूँ तो अवश्य अजीव मेरा 'स्व' वन जाय और मैं अजीव का स्वामी वन जाऊँ ! जीव का स्वामी जीव ही निश्चय से है। अजीव का स्वामी वन जाने से वलात् मेरे भो अजोवत्व न प्राप्त हो जाय। इस विचार से यही एक मात्र भावना करता है, कि मेरा तो केवल ज्ञायक स्वभाव ही अपना है। इसी का मैं स्वामो हूँ—अन्य का नही।

यह मेरा निश्चय है। यह अजीव जड़ पदार्थ दो टुकडे हो जायें, या टुकडे टुकडे हो जायँ, अथवा इन्हे कोई ले जायें, व नष्ट हो जायँ, और जायें तो जायं, ऐसा हो जाने पर मेरी कोई हानि नही ! क्योकि पर द्रव्य 'मेरा धन नही, न मैं उनका स्वामी हूँ। परद्रव्य—जड अजीव का है, वही उसका स्वामी है। 'मैं आत्मा हूँ, ज्ञानादि धन मेरा है। मैं उसी का स्वामी हूँ' यह मैं जानता हूँ। इस प्रकार भेदज्ञान की दृष्टि से सर्व परभाव को दूर करके, सर्वथा आत्म रूप मे स्थिर रहता है।

सामान्यत स्वपर के अविवेक का हेतु अज्ञान है। उसको छोड देने के मन वाले प्राणी को, पुन आत्मा को निर्मल करने के लिये कहते हैं·—

समस्त परद्रव्यों को स्वक्षेत्र से अर्थात् आत्मप्रदेशो से लेकर परक्षेत्र मे स्थापन करने रूप सर्वथा त्याग करना तो अयोगिगुणस्थान के चरम समय तक होता है। इससे पूर्व तो उदय और सत्तागत पुद्गल स्कन्धों का आत्मक्षेत्र मे अवगाहित्व रहना दिखता ही है, तव समस्त परभाव का त्याग कैसे है ? और त्याग के अभाव मे स्वरूप की निष्पत्ति भी कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यो है—

कर्म आत्मा के एक क्षेत्र मे रहे हुये होने से आत्म प्रदेशो मे स्थित हैं। वे आश्रव के हेतु नही हैं। किन्तु जो उदय मे आये हुये विपाक मे तथा इन्द्रियगृहीत वर्णादि मे विपर्यास होने से असयम द्वारा इष्ट या अनिष्ट रूप से व्यापक होने पर अभिनव बन्ध होता है, वह साधनोद्यत के अव्यापक रूप से होते हैं। अर्थात् साधक उनके उदय या विपाक मे अव्याप्त रहता है। इष्टानिष्ट बुद्धि नही करता, अतः साधक के वे निमित्तभूत परभाव, आश्रव के लिये नही होते। और इसी कारण से सम्यग्दर्शनादि गुण परिणत आत्माओ के जितने काल तक परभाव में अव्यापकता रहती है, उतने काल तक निर्जरा होती है, यदि आत्मा से सम्बद्ध पुद्गलमात्र ही बाधक हो जाते हैं, तो मुनियो

के शरीर आहारादि काल में चारित्र का अभाव ही होने का प्रसग हो जायगा। तथा सिद्धो के एक क्षेत्रावगाह पुद्गलस्कन्धों का सद्भाव होने पर भी ग्राहक रूप से अव्यापकता रहती है। अत. जहाँ भोक्तृत्व है वहाँ ही आश्रवता है। और इसीलिए कहते हैः—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणियो अन्नाणीण इच्छाइ।
अहम्म तेणाण गहो अहम्मस्स सुद्धप्पाणायगो होइ ॥१२॥

व्याख्या—इच्छा ही परिग्रह है, जिसके परिग्रह नही, उसके इच्छा नही। इच्छा अज्ञानमय भाव तो ज्ञानी के हो नही सकता। ज्ञानी के ज्ञानमय भाव ही है; अत ज्ञानी अज्ञानमय भाव मे रमण नही करता है, वह ज्ञान से आत्मतत्व के अतिरिक्त अन्य को इच्छा नही करता। इससे ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नही होता। अधर्म शब्द से आत्मसत्तागत धर्म से अन्य सभी आत्मापेक्षा से अधर्म हो है। इस कारण परवस्तु की इच्छा से रहित साधक आत्मा, तत्वश्रद्धान—सम्यक्त्व, तत्वभासन—सम्यग्ज्ञान, तत्वरमण—सम्यक्चारित्र मे परिणत, अभिसम्धिज भाव से अधर्म के ग्राहक नही होते। उनके मात्र शुद्ध स्वभाव का तादात्म्यभाव है। अधर्म का तो केवल ज्ञायक मात्र भाव है। स्वधर्म का ज्ञायक भी है और भोक्ता भी है। यह साराश है।

इसी प्रकार रागद्वेप, क्रोध, मान, माया, लोभ मनवचन कायादि का तथा धर्मास्तिकायादि परद्रव्यो का और अशनपानादि पुद्गलस्कन्धो का ज्ञायक ही है, ग्राहक नही। अतः पूर्णतत्वज्ञ के उदय मे आये हुये स्वक्षेत्रगत पुद्गलस्कन्धों के अयोग्य रूप होने से निर्जरा ही होती है, अभिनव वन्ध नही होता। इस प्रकार तत्वरसिकजनो के अत्यन्त निष्परिग्रहत्व सिद्ध है। तत्वज्ञानी इस रीति से सम्पूर्ण नवान्तर परिग्रहशून्य होने से और अज्ञान का पूर्णरूप से वमन हो जाने से और सर्वत्र पूर्ण निरालम्ब होकर प्रतिनियत टकोत्कोर्ण एकमात्र ज्ञायक

स्वभाव होता हुआ साक्षात् इस विज्ञान घनमय आत्मा का अनुभव करता है।

"ज्ञानमग्न निजतत्वविलीनः, पूर्ववद्धनिज कर्मविपाकान्।
व्याप्तिभाव रहित परिभुज्जन्,निर्जरयति नहि नव्यवन्धक ॥८॥

अर्थः—ज्ञान मग्न स्वात्मतत्व मे लीन आत्मा, पूर्व मे वांधे हुये अपने कर्मों के विपाक को व्याप्ति रहित भोगता हुआ उन कर्मों की निर्जरा करता है। नवीन कर्मों का वन्धक नही वनता।

त्यागवुद्धि से भोगते हुये भी आकाक्षा के अभाव मे वन्ध नही होता। इसे स्पष्टता से समझाते है—

उप्पन्नोदय भोगो वियोगवुद्धीएतस्य सो णिच्च।
निक्कखस्स भगवओ, न हेउभावत्तणा लहइ ॥ १३ ॥

व्याख्याः—उदयप्राप्त कर्मों का विपाक नित्य त्यागवुद्धि से भोगते हुये, समस्त परभावो की आकाक्षा नही रखने वाले पूज्य सर्वज्ञ ज्ञानी भगवान् के वे उदयप्राप्त कर्म विपाक हेतुभाव नही वनते। अर्थात् वन्धहेतु नही वनते, अत अभिनववन्ध नही होता।

कर्मोदय का उपभोग तीन प्रकार के कर्मों का होता है—अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत। उसमे अतीत तो अतीत होने से वह परिग्रह भाव नही रखता। और अनागत तो उसमे आकाक्षा करते हुये जन के ही परिग्रह भाव रखता है। वे सर्वज्ञ तो पुरुषोत्तम है, वे अनागत को आकाक्षा नही करते; इससे वन्धक भी नही वनते। तथा प्रत्युत्पन्न कर्मोदय का विपाक है, वह रागवुद्धि से प्रवर्त्तमान जीव के ही वन्ध का कारण है। ज्ञानी के प्रत्युत्पन्न कर्म का विपाक या उपभोग रागादि मे प्रवर्त्तमान न होनेसे वन्ध का हेतु नही होता। ज्ञानी के जो ज्ञानमय भाव वाला है, रागवुद्धि का अभाव होने से वह केवल विराग वुद्धि में प्रवृत्त रहता है, अत वह वन्धक नही और प्रत्युत्पन्न कर्मोदय का उपभोग ज्ञानी के इसी कारण परिग्रह नही होता। अनागत कर्मोदय

का उपभोग तो सकलज्ञानी के अनाकांक्षित ही है। ज्ञानमय भाव वाले ज्ञानी के आकांक्षा का अभाव होता है; अतः अनागत कर्मोदय के उपभोग का परिग्रह ज्ञानी के नही हो सकता। क्योकि ज्ञानी के निश्चय से स्वभाव का टकोत्कीर्णमात्र ज्ञापय भाव सदा रहता है, तथा जो वेद्य वेदकभाव हैं, वे दोनो विभाव भावो के अनुत्पादक और प्रध्वसक होने से क्षपक हो जाते है। उनमे जो भाव काक्ष्यमाण वेद्य-भाव को वेदने वाला है, वह जब तक उत्पन्न हो तब तक तो कांक्षमाण वेद्यभाव का विनाश हो जाता है। उसके नष्ट होने पर वेदक भाव क्या वेदे ? यदि कांक्ष्यमाण वेद्यभाव पीछे होने वाले अन्यभाव को वेदता है; तो उसके होने से पूर्व ही वह विनष्ट हो जाता है; तब उसे कौन वेदता है ? यदि वेदकभाव पीछे होने वाले भाव को जो रखा हुआ है, उसे वेदता है, तो उसके होने से पूर्व वह नष्ट हो जाता है, तब वह किसे वेदता है ? इस प्रकार काक्ष्यमाण भाववेदना की आव-श्यकता जानता हुआ ज्ञानी किञ्चित् भी आकाक्षा नही करता।

वेद्य वेदक विधिः क्षणक्षयी, विद्यते न खलु केन कदाचित्।
तेन नेच्छति परस्य हि भोक्तृतां भिन्नता भजति धीरस्य सुधीमान्।८।

अर्थः— वेद्य वेदकविधि क्षणमात्र में ही क्षय हो जाती है। निश्चय से किसी प्रकार भी वह ठहरता नही है; अतः धीर बुद्धिमान् साधक पर वस्तु की भोक्तृता की इच्छा नही करता और इससे भिन्नता का भाव रखता है।

यहाँ वास्तव में यह समझने योग्य है, कि उदय मे आये हुये को वेदने मे तो असंख्यात समय लगते हैं; और प्रति समय वेदभाव की नव्यता रहती है, तब कैसे उसका भोग हो सकता है। अतः मुनि प्रायः उदय में अव्यापक ही रहता है। इस अवस्था में जिन अध्यवसायों का उदय होता है, उनमे से कौन से संसार विपयक व कौन से शरीर

विषयक हैं, उनमे जितने ससार विषयक हैं, वे वन्ध के निमित्त हैं। जितने शरीर विषयक हैं, वे उपभोगनिमित्त हैं। संसार विपयक अध्यवसायो मे रागद्वेपमोहादि का भाव है, अतः वे वन्ध के निमित्त है। शरीर विपयक सुखदुःखादि हैं वे उपभोगनिमित्त हैं। उनमें ज्ञानी का राग नही है; क्योंकि ज्ञानी उन्हे पर स्वभाव-जड़ स्वभाव जानता है। टंकोत्कीर्ण एकमात्र ज्ञायक भाव रूप स्वभाव वाले ज्ञानी के परभाव का प्रतिपेध है। अत शरीर विपयक आहारादि का भोग वन्ध का निमित्त नही वनता। जैसे—पाश रहित वस्त्र को अनेक मञ्जिष्ठादि रगो में चिरकाल रहने पर भी वर्णान्तरता नही होती। वैसे ही ज्ञानी परभाव मे व्यापकत्व होने पर भी रागादि रहित होता है। विपाकवश उदय मे आये हुये को भोगता हुआ भी वन्ध नही करता; प्रत्युत निर्जरा ही करता है। ऐसा जानना चाहिये।

विपाक का उदय वन्ध का हेतु नही है। विपाक का उदय होने पर भी जिनेश्वर देवों-सर्वज्ञो के अवन्धता प्रसिद्ध ही है। रागी द्वेपी ही कर्म वाँधता है, अत जो आत्मतत्वालम्वी आत्मा मे उपयोग रखने वाला ज्ञानी है वह वाँधता नही; किंतु मुक्त होता जाता है। यही कहते है —

> णाणी कसायरहियो सव्वे पुव्वोदये अ भु जतो।
> णो लिप्पइ कम्मरये, अन्नाणी तम्मओ अ लिप्पइ ॥१४॥

व्याख्या — जैसे स्वर्ण कीचड़ मे रहा हुआ भी कीचड से लिप्त नही होता। क्योकि उसका स्वभाव लिप्त होने का नही है। वैसे ही ज्ञानी जो चारित्रयुक्त है, विपाक प्राप्त कर्मोदय में रहा हुआ भी अव्यापक होने से कर्मों से लिप्त नही होता। क्योकि उसके परद्रव्य पर राग के त्याग का स्वभाव होने पर अलेप स्वभाव होता है। जैसे सोने के काट नही लगता; वैसे ही ज्ञानी आत्मा के वन्ध नही होता।

अज्ञानो परभाव का स्वामित्व मानता है और कर्म को बांधता है। जैसे लोह कीचड़ में पड़ा रहे तो उसके काट लग जाता है, क्योंकि काट लगना लोह का स्वभाव है। अज्ञानो सर्व परद्रव्य के प्रति रागद्वेष की भावना रखता हुआ रागद्वेष के उपादान शील स्वभाव वाला है; अत वह कर्म से लिप्त होता ही है —

यही कहते हैं.—

पर परिणतिरागादि् रागाद् बध्यते नव्यलेपै.,
परपरिणतित्यागा न्नैव बन्धत्वमेति ।
न खलु न खलु ग्राह्य भिन्नं द्रव्य स्वरूपं,
यदिह नहि स्वकीयं त न गृहणाति दक्षः ।।१०।।

अर्थ—आत्मा परपरिणति के राग से नये कर्मलेप से लिप्त होता है और परपरिणति के त्याग से बन्धत्व को प्राप्त नहीं होता। अत निश्चय से परद्रव्य जो आत्मा से भिन्न स्वरूप वाले है; वे किसी भी प्रकार से ग्राह्य नहीं हो सकते। क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति जो अपना नही है उसे नही लेते। यह संसार मे भी व्यवहार से एव नीति से प्रसिद्ध है।

यह प्रतिभा या भावना सम्यग् रत्नत्रयीपरिणत जीव के ही ठहरती है। वह परभावों को धारण करता हुआ भी उनका कर्त्ता और भोक्ता नही है। उस परिणति से भिन्न ही है।

निस्सको निक्कंखो निव्वितिगिच्छो अमूढदिट्ठी अ।
उववूहो थिरभावो वच्छल्ल पभावण जुत्तो ।। १५ ।।
सपर विगीवेन्यणां, नियभवे जो रओ धीरो ।
सो सव्व कम्मं उदयगयं निज्जरइ भिन्नो ।।१६।।
जो रमइ सो बंधइ, नो रमइ तस्स वधणं नत्थि।
तम्हा पुव्वोदिन्ने, न रमंतो निज्जर कुणइ ।। १७ ।।

व्याख्या—यहाँ जो साधक-साधु है, वे समस्त कर्मों से निरभिलाप-अभिच्छुक होते हुये कर्म से अत्यन्त निरपेक्षतया वर्त्तते हैं। इस कारण वे कर्मोदय मे अतिशय निर्भर माने जाते हैं। वे समझते हैं कि ये विपाक मेरे स्वधर्म के छेदक नही, किन्तु आवारकमात्र हैं और वे भी स्वल्पकालावस्थावी हैं। अत उसके विपाक मे शका कैसी ? क्षय का अवसर आने पर स्वत. क्षय हो जाते है। क्षय का अवसर आने पर ही वे विपाकी बनते हैं, इसमे कैसा भय ? और कैसी दीनता। "मैं तो शुद्ध ज्ञानादि अनन्त आनन्दमय हू।" इस प्रकार मुनि सर्वभय से विप्रमुक्त नि शक विचरता है।

अर्थात्—इहलोकादि सभी भय है। उनमे से यदि कोई जो पूर्व मे बाँधे हुये हैं, वे उदय मे क्षय होने के लिये ही आरहे हैं, तो बुद्धिमान जनो को क्या भय करना चाहिये ? परभाव का क्षरण करने के लिये विपाक का उदय होता है, इसमे कौन समभावान्वित, चेतना परिणति वाला आतुर बने। वह तो शुद्धात्म भाव का सेवन करे। क्योकि सम्यग्दृष्टि टकोत्कीर्ण ज्ञायकसम्यवस होने से कर्मबन्ध की शका कराने वाले मिथ्यात्वादि भावो के अभाव मे नि शक रहता है, अत उसके शकाकृत बन्ध नही, किन्तु निर्जरा ही है।

सम्यग् दृष्टि के आकाक्षाकृत बन्ध भी नही होता, क्योकि वह टकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावमय होने से सभी कर्मफलों और सभी वस्तु-धर्मों मे निराकाक्षी है। अत काक्षा के अभाव मे बन्ध न होकर निर्जरा ही होता है।

उसके विचिकित्साकृत कर्मबन्ध भी नही है, क्योकि सम्यग्-दृष्टि ज्ञानचरित्रमय टकोत्कीर्ण ज्ञाता स्वभावमय होने से सभी द्रव्य जो स्व स्वभाव परिणत और पर हैं, और जिन्हे हेयरूप से विभक्त कर दिया है तथा स्व, आत्मभावों मे जो स्वतया उपादेय कर लिये गये है, उन मे जुगुप्सा का अभाव होने से वे निर्विचिकित्स हैं। इस कारण

उसके भी बन्ध नहीं, निर्जरा हो है। तथा अशुभभावो मे भी हेयत्व रूप से तद्धर्म व तत्स्वरूपतया धारण किये जाने पर उनमे कौनसी काक्षा अथवा दुगछा हैं। क्योकि काक्षा रागोद्भवा और दुगछा द्वेषोद्भवा होती है। राग और द्वेष दोनो ही अकार्य हैं, अत दोनो के अभाव मे उस प्रकार की इष्ट या अनिष्ट विपाको के भोग में भी निर्जरा ही होती है। तथा यथार्थ ज्ञानादि परिणाम से किन्ही भावो मे मूढ़ता नही होती, अत मूढदृष्टि से किया जाने वाला बन्ध भी सम्यग् दृष्टि के नही होता। वाग्योग का आश्रवत्व होने पर भी सम्यग्ज्ञान कारणता रूप मे प्रवर्त्तने वाले के बन्ध नही होता, क्योकि सम्यग्ज्ञान चारित्रयुक्त, निराबाध, ज्ञायक भावना वाला, भावरूप से समस्त आत्मशक्तियो को साधनरूप से अथवा स्वकार्य रूप से प्रवृत्त करता हुआ, तथा आविर्भूत शक्तियो को परभावो मे प्रयुक्त नही करता हुआ जो आत्मा है, उसके स्वशक्ति की दुर्बलता के अभाव मे अन्यथा प्रवृत्ति नही होती, अतः तत्कृतबन्ध न होकर प्रत्युत निर्जरा ही होती है।

सम्यग् रत्नत्रयीयुक्त आत्मा साध्य साधन की एकता वाला है। स्व अथवा अन्य के मार्गच्युत होने का प्रसग उपस्थित होने पर मार्ग पर ही स्थिति करता कराता है। अत. स्थिरीभूत आत्मस्वभाव वाला होने से मार्गच्युति से होने वाला बन्ध भी नही होता, क्योकि मोक्षमार्ग का साधक आत्मा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को जो स्व से अभेदबुद्धि से स्थित है उन्हे स्वगुणो मे स्थिर करता है।

स्वगुणो का पोषण करने से वात्सल्यगुणकारक होता है। इस गुण के धारक के अन्य साधकजनों के स्वोपदेशादि द्वारा क्षुधादि विघ्नो को दूर करने और पोषण करने से अवात्सल्यरूप अतिचार से होने वाला कर्मबन्ध नही होता। द्रव्यवात्सल्य भी भाववात्सल्य का कारण ही है, अत उसे भी वात्सल्य ही कहना चाहिये। जो विभाव के

कारण है, वे द्रव्य निक्षेप वाले के भी नही होते, लोक मे जो भाव के कारण हैं, वे सचेतन या अचेतन द्रव्य, तत्वज्ञो के द्वारा कहे गये हैं। ऐसा आगम वाक्य है। तथा ससार मे भी द्रव्य, भाव का कारण माना जाता है। श्री आचाराग सूत्र व टीका मे भी यही कहा गया है —

"जे गुणे से मूलट्ठाणे" (आलोकविजयाध्ययने उद्देश)

यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनादि वालो के द्वारा की गई क्रिया सिद्धिफल रूप गुण से फलवती है। अन्य दूसरी क्रियाएँ तो सांसारिक फल मे अध्यारोप होने से निष्फल अर्थात् मुक्तिरूप फल देने वाली नही होती इत्यादि अनेक वाक्यों से जान लेना चाहिये। फिर क्योकि सम्यग रत्नत्रयी परिणत आत्मा स्वशक्ति के जागरण से अर्थात ज्ञानादि को निरावरण कर लेने से अन्य भव्य जीवो के स्वभाव को प्रकाशित करने मे कारणरूप है, अत शासन-प्रभावक है, और प्रभावक होने से यह भी कर्मबन्ध नही करता। उसके भी निर्जरा ही होती है। इस प्रकार दर्शन के आठ आचारो का पालन करने वाले के निर्जरा ही होती है, बन्ध नही होता।

दोष त्यागात् शुचि निजगुणै र्नाट्यन् स्वस्वरूप,
निश्शकाद्यै र्वसननिचयै र्भूषयन् स्वात्मशक्तीन् ।
सम्यग्दृष्टि निर्जररसोत्कर्षत स्तत्वलीनो,
बन्ध त्यक्त्वा किरणीते दलिकान् तस्य वै निर्जरव ॥१२॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा, निर्जररस-ज्ञानादि अथवा शान्तरस के उत्कर्ष से तत्व मे लीन हो जाता है। शकादि या रागादि दोषो के त्याग से निज गुणो के द्वारा स्वस्वरूप की रमण-क्रीडा कराता हुआ और निःशकत्वादि आठ आचार मय वस्त्रो से स्वात्मशक्तियो को भूषित करता हुआ बन्ध को छोड कर पुद्गल दलिको को बिखेर देता है, उसके निश्चय से निर्जरा ही होती है।

॥ इति निर्जरा वर्णनस्वरूप षष्ठाधिकार ॥

अथ बन्ध निवारण सप्तमोऽधिकारः

(शार्दूल विक्रीड़ित वृत्तम्)

राग द्वेष महाभटेन सकल विश्व प्रमादीकृत,
शुद्धानन्दरस विहाय समल भाव विष प्रापितम् ।
तद् विच्छेदपर सुखोदयकर सद्भावना भावित,
स्याद्वादामृतपानपूर्णममल ज्ञान समुज्जृम्भते ।।

अर्थ —रागद्वेषरूप महायोद्धा के द्वारा यह सारा ससार प्रमत्त वना हुआ है और शुद्ध आत्मानन्द रस को छुडाकर कर्ममलरूप भाव विषमय वना दिया गया है । उस विप को नष्ट करने वाला, सुख का उदय करने वाला, सद्भावनाओ से भावित, स्याद्वाद अमृतपान से भरा हुआ, निर्मल ज्ञान सम्यग् प्रकार से समुल्लिसित हो रहा है, विलास कर रहा है ।

जहनाम को वि पुरिसो णेहब्भतो उ रेणु वहुलम्मि ।
ठाणस्मि वायाम कुव्वतोऽणेग चेट्ठाइ ।। १ ।।
सो रेणु जत्तो होही णेहेण य णेग चिट्टकरणेहिं ।
एव पुग्गल रेणु लिप्पइ जीवे सरागत्थे ।। २ ।।

व्याख्याः—यहाँ यह समझने योग्य है कि जैसे कोई तैलाभ्यगयुक्त पुरुप स्वभाव से ही रज की अधिकता वाली भूमि मे रहा हुआ, नाना प्रकार के व्यायाम या शस्त्राभ्यास का कार्य करता हुआ, अनेक प्रकार की चेष्टाओ, व्यायाम एव सचित्त अचित्तादि पदार्थों को अर्थात् चाँदमारी या लक्ष्यवेध करता हुआ धूल से सन जाता है। वैसे तैलाभ्यग रहित पुरुप के रज नही लगती, भले वह शस्त्राभ्यास या व्यायाम करे या न करे। रज चिपकने का कारण तैल है, वह नही

लगा हुआ है, तो रज नही लगती। इस न्याय के बल से यह सिद्ध है कि रज लगने का हेतु तैलाभ्यग है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आत्मा परभाव मे रागादि करता हुआ, स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गल की अधिकता वाले इस जगत् मे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करता हुआ, अनेक प्रकार के इन्द्रियादि साधनो द्वारा सचिता चित्त वस्तुओ का इष्ट अनिष्ट रूप से ग्रहण त्यागादि करता हुआ, कर्म-रज से बँधता है। उसके कौन सा बन्ध हेतु है ? स्वभाव से तो राग द्वेष ही तो, कर्म बँधते नही। यदि स्वभाव से बधते हो तो कर्मयोग्य पुद्गलो से भरे हुये लोक मे सिद्धो के भी जो लोक मे ही हैं, कर्मबन्ध का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता। और केवल योग ही–मन मन वचन, काय ही बन्ध के हेतु माने जायँ ! तो योग की विद्यमानता मे यथाख्यात चरित्र वाले क्षीण मोहादि गुण स्थानवर्ती जीवो के घाति कर्मों के बन्ध का सम्भव नही। योग-मनोवाक् काय होने पर ईर्यापथिकी की क्रिया से होने वाले असात् दु ख मानता हुआ 'मैं सुखी हू' 'मैं दु खी हूं' 'मैं दुखित अन्य जीवो को सुखी करता हू' अथवा दुःखी करता हूं' या अन्य जीव मुझे सुखी या दु खी करते हैं यह धारणा भी निश्चय से अज्ञान है। इस प्रकार के अध्यवसायों वाला मिथ्यादृष्टि कर्मों से बँधता है। 'स्व या पर का जीवन तो स्व स्व कर्मानुसार होता है' ऐसा जानता हुआ सम्यग् दृष्टि तो यह विचारता है कि 'मैं किसी का नही हू' 'न मेरा कोई है' मुझे अपना स्वरूप परिणतमय नही करना चाहिये। चेतना तथा वीर्यादि को परानुयायी करना ही अभिनव कर्म का ग्रहण कराता है। अत "मैं पर व्यापार मे तत्पर नही होऊँ, मुझे चेतना व वीर्यादि को मेरे स्वरूप का अनुगत करना चाहिये" ऐसा जानता विचारता और करता हुआ ज्ञानी कर्मो से बद्ध नही होता। क्योंकि मरता है, जीता है, सुखी होता है, दु:खी होता है। ये सब कार्य जीव के अपने कर्मोदय मे होते

अथ बन्ध निवारण सप्तमोऽधिका

(शार्दूल विक्रीड़ित वृतम्)

राग द्वेष महाभटेन सकल विश्व प्रमादीकृत,
शुद्धानन्दरस विहाय समल भाव विष प्रापितम्
तद् विच्छेदपर सुखोदयकर सद्भावना भावित,
स्याद्वादामृतपानपूर्णममल ज्ञान समुज्जृम्भते

अर्थ —रागद्वेषरूप महायोद्धा के द्वारा यह सारा सर वना हुआ है और शुद्ध आत्मानन्द रस को छुडाकर व भाव विपमय वना दिया गया है। उस विप को नष्ट कर सुख का उदय करने वाला, सद्भावनाओ से भावित, अमृतपान से भरा हुआ, निर्मल ज्ञान सम्यग् प्रकार से सम् हो रहा है, विलास कर रहा है।

जहनाम को वि पुरिसो णेहब्भतो उ रेणु वहुलम्मि
ठाणस्मि वायाम कुव्वतोऽणेग चेट्ठाइ ॥ १
सो रेणु जत्तो होही णेहेण य णेग चिट्टकरणेहि
एव पुग्गल रेणु लिप्पइ जीवे सरागत्थे ॥ २

व्याख्याः—यहाँ यह समझने योग्य है कि जैसे कोई तैला पुरुप स्वभाव से ही रज की अधिकता वाली भूमि मे रहा हु प्रकार के व्यायाम या शस्त्राभ्यास का कार्य करता हुआ, अने की चेष्टाओ, व्यायाम एव सचित्त अचित्तादि पदार्थों व चाँदमारी या लक्ष्यवेध करता हुआ धूल से सन जाता तैलाभ्यग रहित पुरुष के रज नही लगती, भले वह शस्त्रा व्यायाम करे या न करे। रज चिपकने का कारण तैल है,

हिंसा का अध्यवसाय है, वही वास्तव मे बन्ध का हेतु है। जो हिंसा का अध्यवसाय है, वही विषयाभिलाषा से रागरूप है और परशरीरादि घात युक्त होने से द्वेप रूप है। इस प्रकार सर्वत्र रागद्वेष की एक-समयता आननी चाहिए। विशेषावश्यक मे कहा है कि—"ननु जीवा-कुले लोकेऽवश्यमेव जीव घात सम्भाव्यते, जीवाश्च घ्नन् कथ हिंसको न स्यात् ?" शका की गई है कि जीवो से भरे हुए लोक मे अवश्य ही जीवो के घात की सम्भावना है और जीवो को मारता हुआ हिंसक कैसे नही होता ? अत कहते हैं —

"नय घायउत्ति हिंसो नाघायतो त्ति निच्छिय मयेऽहिंसो।
न विरलजीवमहिंसो न य जीव घणति तो हिंसो ॥१॥
अहणतो वि हु हिंसो दुऽत्ताराओ मओ अहियरोव्व।
वाडतो वि न हिंसो सुद्धमणओ जहा वेज्जो ॥२॥

अर्थ —'मारने वाला है' इतने मात्र से कोई हिंसक नही हो जाता और नही मारने वाला अहिंसक नही हो जाता, ऐसा निश्चय नय का मत है। किसी विरल जीव को भी हिंसा नही करता, इसके भी कोई अहिंसक नही हो जाता। तया वहुत जीवो की हिंसा करता है, इससे कोई हिंसक नही हो जाता। तव क्या राजादि का घातक अभिचर[1] वह दुष्ट अध्यवसाय वाला होने से न मारता हुआ भी हिंसक है ? उत्तर है कि हाँ वह हिंसक है। रोगी को कष्ट देता हुआ वैद्य शुद्ध परिणाम वाला होने से हिंसक नही है, अत. मारता हुआ भी अहिंसक हो सकता है और न मारता हुआ भी हिंसक हो सकता है, यह कहा गया है।

किस प्रकार का अहिंसक यहाँ ग्रहण किया जाय ? यह वतलाते हैं —

पच समिओ तियुत्तो नाणी अविहिंसओ न विवरीओ
हो उ व संपन्ना से मा वा जीवावरोहेणां ॥ ७ ॥

---

[1] अभीचिकुमार

अर्थः—पच समितियो से समित और तीन गुप्तियो से गुप्त ज्ञानी, जीवो की रक्षा को स्वरक्षा जानने वाला, सर्वथा जीवरक्षा के परिणामयुक्त और जीव रक्षा मे तत्पर, हिसा करता हुआ भी अहिसक माना गया है। इससे विपरीत लक्षण वाला अहिसक नही है, किन्तु अशुभ परिणाम वाला होने से हिसक है। वाह्य जीव-हिसा तो जीवो का उपरोध करने वाले के कीटादि जीवो के उपरोध से उपघात हो अथवा न हो, वह साधु के हिसकत्व के लिये नही। क्योकि उसका अनेकान्तिकत्व है। उसका अनेकान्तिकत्व कैसे है ? अत कहते हैं—

असुओ जो परिणामो सा हिसा सो उ वाहिर निमित्त
कोविअवे खेज्ज न वा जम्हा ण निमिय वज्झ ॥८॥

व्याख्या —क्योकि यहाँ निश्चय से जो अशुभ परिणाम है, वही हिसा है, यह विशेष रूप से कहा जा रहा है। और वह वाह्य सत्वातिपात क्रिया (प्राणीहिसा) किसी के लक्षण निमित्त अपेक्षित है। किसी के वह निरपेक्ष भी हो सकती है, जैसे तन्दुलमत्स्य आदि के। इस कारण वाह्य निमित्त अनेकान्तिक ही है। उज वाह्य निमित्त के सद्भाव मे भी अहिसकत्व हो सकता है, और उसके अभाव मे भी हिसकत्व हो सकता है। शका होती है कि यदि ऐसा है, तो क्या वाह्य जीवघात सर्वथा हिसा है ही नही ? इस विषय मे कहते है, कि कोई होती है, कोई नही होती। यह कैसे ? उसे कहते हैः—

अशुभ परिणाम हेउ जीवावाहो तितो मय हिसा ।
जस्स उ न सो निमित्त सते वि न तस्स सा हिसा ॥९॥

व्याख्या —क्योकि जो जीव हिसा है, वह अशुभ परिणाम के हेतु से है। अथवा अशुभ परिणाम मय है। यह जीववाधा ही जीवघात है, वही जीवहिसा है, ऐसा तीर्थंकरो व गणधरो का मत है। जिसके जीवघात या जीव को वाधा देने का अशुभ परिणाम नही है, उसके

वहां जीवाबाध होते हुये भी हिंसा नही है। इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हुये कहते हैं:—

सद्दादओ रइफला न वीयमोहस्स भावसुद्धीओ।
जह तह हिंसा भावो न सुद्धमण सो वि हिंसाए ॥१०॥

व्याख्या:—जैसे रागद्वेष मोहादि रहित भगवान् के भावविशुद्धि (इष्टशब्दादि) होने से रतिफल जनक अर्थात् प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले कभी भी नही होते, और जैसे आज भी शुद्ध आत्मा वाले (मर्यादामयपुरुष) व्यक्ति को रूपवती माता के साथ विषय सेवन की अभिलाषा उत्पन्न नही होती, वैसे ही शुद्ध परिणाम वाले जयणायुक्त साधु श्रावक के भी स्वात्मस्वरूप साधन मे कारणरूप अर्हदादि की सेवा मे होने वाला जीवो का अपघात भी हिसा के लिये नही होता; अत अशुद्ध परिणामजनकत्व होने पर भी वाह्य निमित्त अनेकान्तिक है। तथा हिंसादि आश्रवकर्त्तव्य से हिसादि आश्रव हैं, साधनादि मे नही। इसी प्रकार श्री भगवती सूत्र मे हर्पानिक्कासनादि अधिकार मे भी है। तथा भगवती सूत्र के पचमशतक के चतुर्थ उद्देश मे अति मुक्तकुमार मुनि के चरित्र मे—वर्षा की नाली के जलप्रवाह मे पात्र तिराने पर भी आलोचना नही; किन्तु वृद्ध श्रमणो को वैयावृत्य करने का उपदेश है। वहां ऐसा आलापक (पाठ) है;—

तं मा ण अज्जो तुब्भे अइमुत्तकुमारसमणं हीलह निंदह खिंसह गरहह अवमन्नह तुब्भे णं देवाणुप्पिआ! अइमुक्त कुमार समण अगिलाए सगिण्हह अगिलाए उपगिण्हह अगिलाए भत्तेणं पाणेण विणएण वेयावडिय करेह! अइमुत्तेणकुमार समणे अतकरेचेव।

भाषा टीका—अतः हे आर्य! आपलोग अतिमुक्तकुमार श्रमण को (निन्दा—मन से बुराई करना) मन से निन्दा न करें। हीलना-जात्यादि उद्घाटन पूर्वक न करो। हिसा मत करो—जनो के समक्ष निन्दा मत करो, गर्हा—(उसके सामने ही बुराई करना) गर्हा कहलाती है, वह न

करो। अवमानना करना—योग्य सेवा सुश्रूषा आदि न करना। मत करो। अतः हे देवानुप्रिय! आप अतिमुक्तकुमार श्रमण को खेद रहित होकर स्वीकृत करिये, खेद बिना उसके सहायक बनो, खेदरहित होकर भक्तमान आदि से तथा विनय से वैयाकृत्य-सेवा करो। अतिमुक्त-कुमार श्रमण अन्तकर अर्थात् जन्ममरण रूप ससार का अन्त करने वाला है। चरमशरीरी मोक्षगामी है। इसी भव मे मोक्ष जाने वाला प्रकृति भद्र है।"

यहाँ षट्काय का वध होने पर भी प्राणातिपात का आश्रव नही। इसी प्रकार मल्लिदेव[1] के अधिकार मे, सुबुद्धि मन्त्री के प्रस्ताव मे और मुमङ्गल निर्ग्रन्थ के अधिकार मे भी हिंसा होने पर भी हिंसकत्व नही दिखता। ऐसे ही ज्ञातृधर्मकथा सूत्र मे धर्मरुचि निर्ग्रन्थ के अधिकार मे कड़ुवा तूंबेका साग देने वाली की राजद्वार आदि मे हीलना, कर्कश वचनादि से निन्दा, पैशुन्य, क्रोध, आक्रोश आदि भी दृष्टिगोचर होते हैं,तथापि वहाँ पापस्थानकता नही। सुनक्षत्र व सर्वानुभूति साधुओ के अधिकार में गोशालक पर आक्रोश करने पर पहले भगवान् महावीर के द्वारा उन्हे रोके जाने पर वैसा करने मे आज्ञाभग नही माना गया। स्वध्याय आदि ध्यान आदि मे मनोयोग वाग्योग काययोग का व्यापार होने पर भी, तत्प्रत्यक बन्ध न मानकर सवर कहा गया है, अतः साधन कारण की प्रवृत्ति मे आश्रव प्रवृत्ति होने पर भी आश्र-वता नही है। इस प्रकार देखना चाहिये। फिर आचारागादि सूत्रो मे सचित्त लवण पान, विपम स्थान मे विहार करने मे वल्लिलता आदि का अवलम्बन कहा ही है। इसी प्रकार मल्लिकादि के विपय मे भी समझ लेना चाहिये। ऐसे ही जो अज्ञान से जैसे अध्यवसाय हिंसा मे किये जाते हैं, वैसे सत्य अदत्त ब्रम्हचर्य अपरिग्रह मे भी जो अध्यवसाय है, वे भी सब केवल पापबन्ध के हेतु हैं, और जो शुभ अध्यवसाय

[1] उन्नीसवें तीर्थंकर

ज्ञान से हिंसा मे जैसे किये जाते हैं; वैसे ही सत्यादि मे किये जाते हैं। वे सभी अध्यवसाय सवररूप हैं। और पुण्यवन्ध रूप हैं। वहाँ उनमे सवरादि में जो इष्टता है, और आश्रव मे जो अनिष्टता है, वह पुण्य-वन्ध की हेतु है। उन्ही सवरादि मे स्वधर्मत्व के रूप से एकरूपता और तन्मयता है। वह सवर की हेतु है और जो आश्रवादि परभावो मे परत्यागता की परिणति है, वही निर्जरा की हेतु है। यहाँ वाह्य वस्तुओ का समूह, वन्ध का हेतु नही, किन्तु वाह्य वस्तु मे ग्रहण व भोग की परिणति और फिर उसमे रागद्वेष की परिणति वन्ध की हेतु है। यह जानना चाहिये।

वत्थु पडुच्च त पुण अज्झवसाण तु होई जीवाणे ।
नय वत्थुतो य वधो अज्झवसाणेण वधो ति ।।११।।

व्याख्या'—अध्यवसाय-परिणाम वन्ध के हेतु हैं, न वाह्य वस्तु। वाह्य वस्तु हमारे अध्यवसाय की हेतु है। ऐसा चरितार्थत्व है। तव क्यो वाह्य वस्तु का प्रतिवेध किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहते हैं—अध्यवसान का प्रतिषेध करने को ही वाह्य वस्तु का प्रतिषेध किया गया है। वाह्य वस्तु अध्यवसाय का कारण है। वाह्य वस्तु के विना अध्यवसाय की उत्पत्ति नही होती। जैसे किसी पुरुष के दो पत्नियाँ हैं, एक पुत्रवती व एक वन्ध्या है। उसका दोनों पर ही द्वेष है। पुत्रवती आश्रयी द्वेषवश वह व्यक्ति सकल्प समय में ऐसा विचार करता है कि 'यह पुत्रवती दुखी हो जाय, इसको मार दू, इसके पुत्र को भी मार दूँ' (क्योंकि भोग मे वाधा पडती है) इस प्रकार के अध्यवसाय होते हैं। वन्ध्या के प्रति भी द्वेषवश तो इतना ही कि 'इस वन्ध्या को मार दू' (वन्ध्या है, सन्तान नहीं देगी व्यर्थ है) ऐसा अध्यवसाय उत्पन्न होता है। इस उदाहरण से सिद्ध होता है, कि अध्यवसाय निराश्रय नही होते। और इसी कारण वुद्धि-मान् राज्यादि ऋद्धि, धन, स्वजनादि को जो वहुतर व वहुलता से

अध्यवसायो के कालुष्य के हेतु है। परित्याग करते हैं। वे अध्यवसायों की अशुद्धता हटाने के लिये उन हेतुभूत वाह्य वस्तुओ के परित्याग को श्रेयस्कर मानकर ही ऐसा करते हैं। इससे यह सिद्ध है कि अध्यवसाय निराश्रय नही होते और इसीलिए अध्यवसायो की आश्रय-भूत वाह्य वस्तुओ का अत्यन्त प्रतिपेध किया गया है। हेतु प्रतिषेध से हेतुमान् का भी प्रतिषेध हो जाने से अशुद्ध अध्यवसायो के अभाव मे, वाह्य वस्तु बन्ध की हेतु नही रहती। जैसे ईर्यापथिकी क्रियावाले केवलि भगवान् के पाँवो से व्यापाद्यमान कालप्रेरित वेग से आपतित जीवो की हिसा से, कुलिगादिवत् साम्परायिक वन्ध भगवती आदि सूत्रो मे नही कहा गया। न समयसार आदि मे ऐसा माना गया है। अत जानना चाहिये कि ऐसे रागद्वेपमय अध्यवसाय इस प्रकार से वन्ध के हेतु है, दूसरे भाव नही। बाह्य वस्तु के सद्भाव को बन्ध हेतुरूप से अगीकार करने पर पर तो वीतरागादि के भी वन्ध के सद्भाव को भी प्राप्ति होजायगी और इनके ऐसा दिखता नही। अतः भाव अध्यवसाय की अशुद्धता ही वन्ध को हेतु है, यह स्थित हुआ।

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणे तिरिअ नेरइए।
देव मणुए अ सव्वे पुण्णं पाव च मोक्खो अ ॥१२॥

व्याख्याः—जैसे यही आत्मा जव हिंसा के अध्यवसायो से नारकत्व माया-कपट वहुल अध्यवसायो से तिर्यगृत्व,दानादिरुचि वालेअध्यवसायो से मनुजत्व, और तपः कष्ट, प्रभु भक्ति आदि के अध्यवसायो से देवत्व प्राप्त करता है। प्रशस्त तथा शुभरागादि अध्यवसायो से पुण्य तथा अरति शोक आदि अशुभ अध्यवसायो से पाप करता है और जव वही आत्मा सर्व परभावो से विरक्त होता है, तो सम्यग्दर्शनी रत्नत्रयी के परिणामो से सवर करता है। संवर की एकता से निर्जरा, और सवर निर्जरा से मोक्ष प्राप्त करता है।

यहाँ स्पष्टता से समझाते हैः—कि कोई व्यक्ति हिंसादि का

कर्त्ता मै हूँ। 'मै करता हूँ', यह ज्ञान, यह निर्धारण, मिथ्यादर्शन है। उसमे एकत्व रूप से रमण असयम है। इस प्रकार की अशुद्ध परिणति से वन्ध आदि का कर्ता वनता है। वही आत्मा जव भेद ज्ञान से विभक्त, वस्तुस्वभाव का ज्ञाता 'यह मेरा कार्य नही' मैं पापस्थानादि का कर्ता नही हूँ। मैं तो 'स्व स्वभावो का, जो मुझसे सदा अविच्छिन्न हैं' का कर्त्ता हूँ। वह शुभाशुभ अध्यवसायो को आत्मा से भिन्न मानता हुआ, अपने मे अनादि परभाव की सकरता (मिलावट) को दूर करने के लिये भेदरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र के परिणामो को साधता हुआ, ज्ञायिक भावयुक्त, वाधक साधक भावो से भिन्न, अनादि निधन स्वरूप पूर्ण, अकृत आनन्द को ही आत्मस्वरूप जानता हुआ, शुद्ध आत्म परिणाम को, उत्सर्गशक्ति मयत्व को, भोगता हुआ रहता है। इससे यह फलित है कि पहले वाधक परिणामो का त्याग करने को साधक परिणामों का ग्रहण करता है। कार्य सिद्धि हो जाने पर साधक परिणामो का भी त्याग ही करना युक्त है। अत परिग्रह आहारादि का त्याग करने मे अशुद्ध राग की हानि होने पर अभिनव कर्म का ग्रहण नही होता। यह जानना चाहिये। पर वस्तुओं का सग मात्र वन्ध का हेतु नही; कषाय की व्याप्ति वन्ध की हेतु है, तथा कषायवृद्धि में परवस्तु कारण है। इसी कारण परवस्तु का त्याग वतलाया है। कहा भी है:—

"विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष, नास्तीह येषा यतय स्त एव" ॥३॥

अर्थ —ससार से पृथक्-अपने आपको त्यागी मानने वाला आत्मा जिसके प्रभाव से अपने को ससारी ही बना लेता है, वह मात्रमोहमय अध्यवसाय ही है। जिनके इस ससार में रहते हुये भी ये मोहरूप अध्यवसाय नही है, वे ही वास्तव मे साधु-मुनि हैं।

सुभासुभ अज्झवसाण न य सो नेव बंध भवइ ।
नियभाव एगयाण निम्मलो हवइ सुद्धप्पा ।।१३।।

व्याख्या —जिनके ये शुभाशुभ अध्यवसाय नहीं होते, वे मुनि कर्मरज से लिप्त नही होते । जिनके ये बन्धहेतुभूत अध्यवसाय नही होते वे ही मुनिकुंजर-मुनियो में ऐरावण गजवत् हैं। अर्थात मुनि श्रेष्ठ हैं। और जो कितनेक सद् हेतुओ को जानने वाले, एक क्रिया को व एक ज्ञायक भाव को धारण करने वाले हैं, वे सर्व परभावो से आत्मा को रहित देखते हुये, तथा वैसा ही आचरण करते हुए, स्वच्छन्दता का दमन करते हुये अमन्द अन्तर्ज्योति से अज्ञान रूप अन्धकार के अभाव से शुभ या अशुभ कर्म से कभी लिप्त नही होते। इस यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप को व उत्सर्ग आत्मस्वभाव को स्वत्व से जान लेता है; तब परभावानुगत रूप व अशुद्ध व्यवहार को छोड़ देता है और स्वकार्य साधना मे कारण रूप शुद्ध व्यवहार को ग्रहण करता है। तथा पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कमदलिकों की निर्जरा करता है। उन कर्मों की निर्जरा होने पर विशेष प्रकार से स्वशक्ति के विकसित हो जाने पर उत्सर्ग का अवलम्बन करके शुद्ध व्यवहारी होकर, शुद्ध निर्मल स्वरूप की एकता में रमण करता हुआ, सब कर्मों का अभाव करके, सिद्ध बुद्ध, आत्यतिक आत्म सम्पत्ति का भोगी, सादि अनन्तकालपर्यन्त स्थित हो जाता है। अर्थात् सिद्ध शिला पर सिद्ध रूप से अवस्थित हो जाता है।

यदैव जीव परभावत्यागी, तदैव जीवो निजभाव भोगी ।
स्वभाव भोगे च स्थिरत्वलीन. करोति सिद्धि विमलां विशिष्टताम् ।।४।,

अर्थ.—जब जीव परभाव का त्यागी होता है, तभी निज भाव का भोगी बनता है। स्वभाव का भोग होने पर स्थिरत्व मे लीन हो जाता है और विशिष्ट रूप से विमल सिद्धि को प्राप्त करता है।

जाणइ तह रोएइ, करेइ तह फासई य सुअकहियं ।
धम्म भोगणिमित्तं, णतु सो कम्मक्खय कुणइ ।।१४।।

व्याख्या—मिथ्यादृष्टि स्व आत्मस्वरूप सुख को नही जानता हुआ, इन्द्रिय सुखो की अधिक लिप्सा से, श्रुतोक्त धर्म को वेदनज्ञान से जान भी लेता है। उसे रुचता भी है, और पुन पुन॰ उन इन्द्रियजन्य सुखो को प्राप्त करने के लिये धर्म-ज्ञान तप संयमादि का आचरण भी करता है तथा धर्मसाधनो का अत्यन्त एकत्व रूप से स्पर्श भी कर लेता है; पर वह भोगनिमित्त व पुद्गल सुख निमित्त ही करता है। न कि कर्मक्षय निमित्त ? क्योकि जो साधन—तप सयमदानादि पोद्गलिक सुख के लिये किया जाता है; वह तो बन्ध के लिये ही होता है न कि मोक्ष के लिये ? कारण कार्य के विपर्यास से साध्य सिद्धि नही होती। न उसे वास्तविक धर्म स्वभाव की श्रद्धा होती है। न उसे विश्वास ही होता है, और न रुचता है। स्पर्शन मात्र से ऊपर के नवग्रैवेयक तक के भोगो को प्राप्त कर लेता है; परन्तु मुक्त कभी नहीं हो सकता। अत. उसके भूतार्थ धर्म श्रद्धान के अभाव से आत्म-स्वभाव का आविर्भाव करने के लिये व श्रद्धानादि करने के लिये साधकत्व नही है। श्रद्धानादि करने पर साध्य सिद्धि होती है। परभाव मे रमता हुआ जीव कर्मों से बंधता है। जो परभाव मे नही रमता, वह कर्मों से नही बंधता। रागादि आत्म स्वभाव नही है; किन्तु परनिमित्त से इनका उद्भव होता है, अतः पर निमित्त का त्याग करना चाहिये।

जह फलिहमणिसुद्धो ण सयं परिणमइ रायसाईहि ।
न रंगिज्जइ अन्नेहिं सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।१५।।

एव नाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहि ।
रायज्जइ अन्नेहिं सो रागादिहिं दोसेहिं ।।१६।।

सुभासुभ अज्झवसाण न य सो नेव बध मवइ ।
नियभाव एगयाण निम्मलो हवइ सुद्धप्पा ॥१३॥

व्याख्या —जिनके ये शुभाशुभ अध्यवसाय नही होते, वे मुनि कर्मरज से लिप्त नही होते । जिनके ये बन्धहेतुभृत अध्यवसाय नही होते वे ही मुनिकु जर-मुनियो मे ऐरावण गजवत् हैं । अर्थात मुनि श्रेष्ठ हैं । और जो कितनेक सद् हेतुओ को जानने वाले, एक क्रिया को व एक ज्ञायक भाव को धारण करने वाले हैं, वे सर्व परभावो से आत्मा को रहित देखते हुये, तथा वैसा ही आचरण करते हुए, स्वच्छन्दता का दमन करते हुये अमन्द अन्तर्ज्योति से अज्ञान रूप अन्धकार के अभाव से शुभ या अशुभ कर्म से कभी लिप्त नही होते । इस यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप को व उत्सर्ग आत्मस्वभाव को स्वत्व से जान लेता है, तब परभावानुगत रूप व अशुद्ध व्यवहार को छोड देता है और स्वकार्य साधना मे कारण रूप शुद्ध व्यवहार को ग्रहण करता है । तथा पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कमदलिकों की निर्जरा करता है । उन कर्मों की निर्जरा होने पर विशेष प्रकार से स्वशक्ति के विकसित हो जाने पर उत्सर्ग का अवलम्बन करके शुद्ध व्यवहारी होकर, शुद्ध निर्मल स्वरूप की एकता मे रमण करता हुआ, सब कर्मो का अभाव करके, सिद्ध बुद्ध, आत्यतिक आत्म सम्पत्ति का भोगी, सादि अनन्तकालपर्यन्त स्थित हो जाता है । अर्थात् सिद्ध शिला पर सिद्ध रूप से अवस्थित हो जाता है ।

यदैव जीव परभावत्यागी, तदैव जीवो निजभाव भोगी ।
स्वभाव भोगे च स्थिरत्वलीन. करोति सिद्धि विमला विशिष्टताम् ॥४॥

अर्थ.—जब जीव परभाव का त्यागी होता है, तभी निज भाव का भोगी बनता है । स्वभाव का भोग होने पर स्थिरत्व मे लीन हो जाता है और विशिष्ट रूप से विमल सिद्धि को प्राप्त करता है ।

जाणइ तह रोएइ, करेइ तह फासई य सुअकहियं ।
धम्म भोगणिमित्त, णतु सो कम्मक्खय कुणइ ॥१४॥

व्याख्या—मिथ्यादृष्टि स्व आत्मस्वरूप सुख को नही जानता हुआ, इन्द्रिय सुखो की अधिक लिप्सा से, श्रुतोक्त धर्म को वेदनज्ञान से जान भी लेता है। उसे रुचता भी है, और पुन पुन· उन इन्द्रियजन्य सुखो को प्राप्त करने के लिये धर्म-ज्ञान तप सयमादि का आचरण भी करता है तथा धर्मसाधनो का अत्यन्त एकत्व रूप से स्पर्श भी कर लेता है, पर वह भोगनिमित्त व पुद्गल सुख निमित्त ही करता है। न कि कर्मक्षय निमित्त ? क्योकि जो साधन—तप सयमदानादि पौद्गलिक सुख के लिये किया जाता है; वह तो वन्ध के लिये ही होता है न कि मोक्ष के लिये ? कारण कार्य के विपर्यास से साध्य सिद्धि नही होती। न उसे वास्तविक धर्म स्वभाव की श्रद्धा होती है। न उसे विश्वास ही होता है, और न रुचता है। स्पर्शन मात्र से ऊपर के नवग्रैवेयक तक के भोगों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु मुक्त कभी नहीं हो सकता। अत उसके भूतार्थ धर्म श्रद्धान के अभाव से आत्म-स्वभाव का आविर्भाव करने के लिये व श्रद्धानादि करने के लिये साधकत्व नही है। श्रद्धानादि करने पर साध्य सिद्धि होती है। परभाव मे रमता हुआ जीव कर्मों से बँधता है। जो परभाव में नही रमता, वह कर्मों से नही बँधता। रागादि आत्म स्वभाव नही है, किन्तु परनिमित्त से इनका उद्भव होता है, अतः पर निमित्त का त्याग करना चाहिये।

जह फलिहमणिसुद्धो ण सयं परिणमइ रायसाईहि ।
न रंगिज्जइ अन्नेहि सो रत्तादीहि दव्वेहि ॥१५॥

एव नाणी सुद्धो ण सय परिणमइ रायमाईहि ।
रायज्जइ अन्नेहि सो रागादिहि दोसेहि ॥१६॥

व्याख्या'—जैसे शुद्ध स्फटिक मणि जो स्वभाव से ही उज्ज्वल है, स्वय रगीन नही । क्योकि निमित्त से ही वैसा हो सकता है, वह स्वय तो शुद्ध श्वेत उज्ज्वल है; किंतु परद्रव्य–रगीन वस्तु के सयोग से रगीन दिखने लगता है । वैसे ही आत्मा भी अपने रागादि निमित्त भूत परद्रव्य से ही रागादि भावापन्न होता है । शुद्ध स्वभाव से प्रच्यवमान–हटती हुई चेतना ही कषायोदय हेतु भूत दलिको का उदय होने पर जो रागादि से व्याप्यमान हैं, स्वय परिणत मात्र होता है । वास्तव मे आत्मा परिणाम से शुद्ध स्वभात्व होने पर भी, रागादि निमित्त से अशुद्ध स्वभाव वाला होकर शुद्ध स्वभाव से च्युत होता हुआ ही रागादि रूप से परिणत होता है।स्वभाव दो तरह के हैं पारिणामिक और भावुक; पचास्तिकायों मे से भावुकत्व जीवास्तिकाय मे ही है ।

इत्यात्मभाव विज्ञानी, ज्ञानी जानाति शुद्धताम् ।
रागादीन्नात्मनः कुर्या न्नातो भवति कारक ।।५।।

इस प्रकार आत्म भाव को विशेष रूप से जानने वाला ज्ञानी आत्मा की शुद्धता को जानता है; और रागादि को अपना नही करता, अर्थात् उन्हे आत्मा के नही जानता; अतः उनका कर्त्ता भी नही बनता ।

यथोक्त वस्तु स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी स्वभाव से च्युत होता ही नही । इसी कारण रागद्वेष मोहादि भावो मे न स्वय परिणत होता है; न दूसरे के द्वारा परिणत किया जा सकता है । तब टकोत्कीर्ण मात्र ज्ञायक भाव वाला ज्ञानी, रागद्वेष मोहादि भावो का अकर्त्ता ही है । यह नियम है । यथोक्त वस्तु स्वभाव को नही जानता हुआ, अज्ञानी शुद्ध स्वभाव से अनादिकाल से प्रच्युत ही है, अत' वह कर्म विपाक से उत्पन्न होने वाले रागद्वेष मोहादि भावो द्वारा परिणत हुआ, रागद्वेष मोहादि भावों को करता हुआ बंधता ही है । ऐसा

नियम है। वास्तव मे अज्ञानी के ये पुद्गल कर्म के निमित्त रागद्वेष मोहादि परिणाम ही है। वे ही पुनः पुन. पुद्गल कर्म वन्ध के हेतु वनते हैं। तव आत्मा रागादि का कर्त्ता क्यो नही है ? ऐसा प्रश्न होने पर उसका उत्तर यो है—

वाहगा सव्वे तेसि मह अकारणो अधम्मत्ता ।
साधक भावाण पुण अकत्ता वत्थु धम्मामि ॥१७॥
वावग भावाना नियया तेसि परिणामगेऽह न कत्ता ।
तेण ताइ करतो अकारगो होइ भिन्नते ॥१८॥

व्याख्या- मैं अधर्म होने से राग द्वेष मोह प्राणातिपातादि वाधक भावो का तथा शुभाशुभ विपाक का कर्त्ता नही हूं; ये सभी परभाव है। फिर 'उनका कर्तृत्व है, वह भी मेरा धर्म नही, न मुझे वे करने योग्य हैं', इससे मैं परभावो का कर्त्ता नही। वह जानने योग्य है। और जो दानदयादि साधकभाव हैं वे भी जवतक मेरे परभावो का अभाव नही हो जाता, तव तक यद्यपि साधक प्रवृत्ति करने योग्य है। तथापि वास्तव मे उत्सर्ग आत्म स्वभाव की अपेक्षा से तो उस साधक भाव का भी मैं कर्त्ता नही हूँ। "मैं तो शुद्ध आत्मीय स्वभाव के भाव का जो पारिणामिक भाव हैं, उसी का कर्त्ता हूं", ऐसा जानता हुआ भोगे जाते हुए परभावो का भी मैं कर्त्ता नही, इससे अकारक है। यह जानना चाहिये। और फिर जो व्यापक है, अनादि अनन्त काल से स्वक्षेत्रावगाढ हो तन्मयत्व रूप से परिणत हैं; उनके स्वभावों का भी मैं न पारिणामिक कर्तृत्वरूप से कर्त्ता हूँ, और न परप्रयोग से। अत स्वरूप कर्तृता रूप आत्मा है, ऐसे विचार का निर्द्धारण करके, जो उसके प्राग् भाव निमित्त स्वरूप साधन कर्तृता को प्राप्त हो गये हैं। वे परभावों के, पूर्वकर्मोदय से ग्रहण त्यागादि के कर्त्ता होने पर भी अकारक ही हैं। प्रश्न होता है कि ऐसा किस कारण से है ? उत्तर यह है कि भिन्न होने से—अर्थात् आत्मज्ञानी आत्मा व परवस्तु दोनो को

एक दूसरे से भिन्न मानता है। अतः अव्यापक रहता है। और आत्मा से पर मानता है। अतः परभावों के अकर्तृत्व मे परिणत जीव अकारक ही होता है।

जवतक जीव प्राणातिपातादि, प्रमाद तथा योगो की चञ्चलतादि से अशुद्ध द्रव्य को जो अशुद्ध अध्यवसायो के निमित्तभूत है, उनका परित्याग नही करता हुआ तव तक नैमित्तक भूत बन्ध साधक भाव को भी नही त्यागता है। और ऐसा होने पर समस्त परद्रव्य को नहीं त्यागता हुआ, उसके निमित्तक भाव का भी त्याग नही करता, तब उसके बन्ध ही है। अथवा जो जीव प्राणातिपातादि पापकर्म और प्रमाद को पूर्व कर्म दोष से करता हुआ भी 'यह मेरा कार्य नही है" और इनके निमित्त जो परभाव है, वे भी मेरे नही हैं।" ऐसे तत्वज्ञान पूर्वक निमित्तभूत पुद्गलद्रव्य का त्याग करता हुआ नैमित्तिक भूत वन्ध साधक भाव का भी त्याग कर देता है। इस प्रकार समस्त परद्रव्यो को अव्यापकत्व रूप से ग्रहण करता हुआ भी त्यागी ही है।

आत्मधर्म साधन के कारण भूत योगादि का ग्रहण हुआ भी अवन्धक ही है। जैसे स्वाध्याय मे वचनयोग की प्रवृत्ति और ध्यान के अवसर पर मनोयोग की प्रवृत्ति। एव सर्व विरति के भी स्वधर्म रक्षक अहिसादि की प्रवृत्ति करते समय जो स्पर्श इन्द्रियप्रवृत्ति होती है; वह भी वन्ध का कारण नही वनती।

आत्मा के अव्यापक अकर्तृत्वादि द्वारा निष्पादित सवरभाव है। द्रव्योपकरणादि वाह्यभाव जो एक क्षेत्रस्थ है; वे वाधक भाव नही हैं। और इस प्रकार द्रव्योपकरणादि को वाधकभाव माना जाय तो, वृक्ष, पृथ्वी आदि के आश्रय से वैठना चलना, शयन, करना आदि करते हुये वे भी वाधक भाव हो जाते है। अतः आत्मा मे स्वामित्व के अभाव द्वारा अवाधकत्व है। इसमे निमित्तभूत परभाव उपादान

के अशुद्ध होने पर ही वाधक वनते हैं। और उपादान के शुद्ध होने पर वे परभाव निमित्त नहीं वनते। इससे वे वाधक भी नही होते। यह जानना चाहिये :—

सम्यग्ज्ञानवलेन भेदविशदज्ञानेन भित्वा पर
त्यक्त्वा भावविभाव दोष सकल स्वात्मस्वभावे स्थित.।
नव्य नैव करोति वन्ध पटल जीर्णं च निर्ज्जीर्य्यं स,
शुद्धात्मत्व विकास भोगसुखता प्राप्त. सदा शोभते॥

अर्थ.—सम्यग्ज्ञानवल और भेद के विशद ज्ञान से स्वपर का भेद करके, समस्त भावविभाव दोप को त्याग कर, स्व आत्म स्वभाव मे जो स्थित होजाता है और नया वन्ध समूह नही करता, तथा पुरातन की निर्जरा करता है, वह शुद्ध आत्मस्वरूप के विकास से स्वरूप भोग को प्राप्त हुआ, सदा शोभित होता है।

॥ इति निष्क्रान्तो वन्धः ॥

श्रीमद्देवचन्द्रगणिविरचितेऽध्यात्मप्रवोधेऽपरनाम देशनासारे वन्ध-निवारणरूप सप्तमोऽधिकारः

श्री सम्यग्ज्ञान प्रकाशकायार्हते नमः

मोक्ष तत्व

अथ मोक्षप्रकाशकोनामाष्टमोऽधिकारः

प्रविशतिमोक्ष

सम्मदिट्ठी जीवा मोक्खमग्गस्स रोअगा हुँति ।
सिद्धि सुहाओ अन्न सुह च नो मन्नइ नाणी ॥१॥

व्याख्या.—जो जीव सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं, वे मोक्षमार्ग—सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपोरूप मुक्तिपथ के रोचक अर्थात् इच्छुक होते है। मिथ्यादृष्टि प्राणी तो स्वरूप का ज्ञान न होने से सुख मे भी विपर्यास भाव वाला होता है। अर्थात् परभाव परभोग मे सुख बुद्धि वाला होता है। और स्वकार्य जो मोक्ष प्राप्ति रूप है; उसे जानता ही नही। यथार्थ ज्ञानी हो सिद्धि सुख के अतिरिक्त अन्य पौद्गलिक सुख को सुख नही मानते। इससे ज्ञानी अपने समस्त ज्ञानादिगुणो के निरावरणत्व को स्वकार्य व उसी के कर्तृत्व को सुख मानते हैं। अतः ज्ञानी जो उस सुख के इच्छुक है, वे मोक्षमार्ग के रसिक है। तत्वाथ सूत्र मे मोक्ष का लक्षण इस प्रकार है.—

वन्धहेत्वभाव निर्जराभ्याम् ॥१॥ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥२॥

अर्थात् वन्ध हेतु—(मिथ्यात्व, अविरति, कपाय, योग रूप) ५७ हेतुओ के अभाव व निर्जरा से, समस्तकर्मो का क्षय हो जाना मोक्ष है। सर्वथा कर्मदलिकों का अभाव ही मोक्ष है। सर्वगुणो की सम्पूर्ण प्राग्भावना ही सिद्धि है। कहा भी है :—

"णो दंसणिस्स नाण नाणेण विणा न हु ति चरणगुणा ।
अगुणस्स नत्थि मुक्खो नत्थि अमुक्खस्स निव्वाण ।।"

अर्थ —सम्यगदर्शनविहीन को ज्ञान नही होता, सम्यग् ज्ञान के विना सम्यग् चारित्र गुण प्राप्त नही होता। चारित्रगुण रहित को मोक्ष की प्राप्ति का अभाव है। और मोक्षाभाव मे निर्वाण का भी अभाव है। मोक्ष के विना सम्पूर्ण सुख की प्राप्ति नही होती; अतएव मोक्ष का उपाय जानने व करने का प्रयत्न करना चाहिये।

वधाण च सहाव वियाणिउ अप्पणो सहाव च ।
वधेसु जो विरज्जइ सो कम्मविमोक्खण कुणइ ।।२।।

व्याख्या —जो निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उसमे विकार करने वाले वन्धो के स्वभाव को जानकर वन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों का क्षय करके मुक्त होता है। शका–इस अर्थ से तो आत्मा और वन्ध को पृथक् करने वाले मोक्ष का हेतुत्व है। ऐसा नियम होजायगा। अर्थात् आत्मा और वन्ध को अलग करने मे मोक्ष हेतुरूप है यह सिद्ध होगा? अव किसके द्वारा आत्मा व वन्ध पृथक् किये जाते हैं। इसे स्पष्ट करते हैं :—

जीवो वधो अ तहा छिज्जति सलक्खणेहिं नियर्येहिं ।
सपन्ना छेयणओ छिन्ना णाण मावन्ना ।।३।।

व्याख्या—आत्मा और वन्ध को पृथक् करने के कार्य मे आत्मा कर्त्तृत्व करण मानने पर निश्चय से स्वय से भिन्न करना असम्भव होने से भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। वह इस प्रकार कि, उन दोनो के छिन्न होने पर नानात्व अवश्य आजाता है। अतः आत्मा और वन्ध को द्विधा प्रज्ञा से ही करना कहा है। यहाँ शंका होती है कि आत्मा और वन्ध चैत्य चेतक भाव से अत्यन्त मिले हुये एकभूत हैं क्या? यदि भेद विज्ञान के अभाव से ही चैत्य चेतक रूप से

व्यवहृत होता हुआ प्रज्ञा से छिन्न किया जा सकता है क्योकि नियत स्वलक्षण सूक्ष्मान्त सन्धि मे सावधान निपातन होता है; ऐसा जानते हैं। सर्व द्रव्यों से भिन्न आत्मा का असाधारण चैतन्य लक्षण है। और वह प्रवृत्त होता हुआ उन उनमे अभिव्याप्त होकर प्रवृत्ति करता है। निवृत्त होता हुआ भी उस चैतन्य लक्षण को लेकर निवृत्त होता है। वह सभी सहप्रवृत्त या क्रमप्रवृत्त पर्याय मात्र आत्मा है। ऐसा लक्षण करना उचित है। एक लक्षण लक्ष्य होने से समस्त सह और क्रम प्रवृत्त अनन्त पर्याय हैं वे अविनाभावित्व रूप से हैं। चैतन्य का जो चिन्मयत्व है, वही निश्चय से आत्मा है। और बन्ध का तो आत्म-द्रव्य के साथ असाधारण रागादि जो साधारणता धारण किये जाते हुये प्रतिभासित होते हैं, क्योंकि वे रागदि सदा चैतन्य चमत्कार से अतिरिक्त प्रतिभासमान रहते हैं। और जब तक ये रागादि आत्मा के स्वपर्याय व्यापि रूप चैतन्य मे प्रतिभासित होते हैं, तभी तक रागादि का प्रतिभास होता है; क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य की आत्म-लाभ सम्भव है ही। और जो रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्प्लवन (उत्पत्ति) है; वह चेतक भाव को समीपता प्रत्यात्ति से ही है। क्योकि आत्मा और रागादि एक द्रव्य नही हैं। विचार करते हुए रागादि आत्मा से भिन्न ही ज्ञात होते हैं। जैसे दीपक और घट, दीपक से प्रकाशित होता हुआ घट दीपक नही है पृथक् वस्तु है। वैसे ही प्रदीप की दीपकता के समान आत्मा की चेतकता है। यह मानना युक्ति युक्त है। चेतकता रागादि की नही है। इस प्रकार आत्मा व रागादि की परस्पर प्रत्यासत्ति तो होती है; परन्तु भेद की सम्भावना तो है ही। इनका अर्थात् आत्मा व रागादि एकत्व का व्यामोह झूंठा है; अतः वह प्रज्ञा द्वारा छेद्य (काटने योग्य—) दूर करने योग्य ही है।

प्रज्ञा की विशेषता वर्णन करते है —

प्रज्ञा छेत्री विशुद्धा स्वपर विभजने प्रेरिता साधु पूज्यै,
भेंद कृत्वा प्रवृत्ता निजगुण निचय स्वीय धर्मेदधामा ।
मिथ्या वन्धान्निवृत्ता परदलपटले भेद भाव दधात्री,
शुद्ध स्वात्म स्वभाव परमपदमय कुर्वती भ्राजते सा ॥१॥

व्याख्या —पूज्य जनो द्वारा स्वपर को पृथक् करने से भली प्रकार प्रेरित की गई विशुद्ध प्रज्ञा पृथक्करण मे समर्थ होती है। वह स्वपर को भिन्न करके स्वकीय धम मे स्वगुण समूह को धारण करती हुई प्रवृत्त होती है। और पर–जड कर्मदलिक राशि मे भेद भाव को धारण करती मिथ्या वन्ध से निवृत्त होती है। वह शुद्ध आत्म स्वभाव को परमपदमय वनाती हुई शोभित होती है।

अव आत्मा व कर्मबन्ध को पृथक् करके क्या करना चाहिये उसे कहते है —

जीवो वधो अ तहा भित्तूर्ण सलक्खणेहिं णिअएहिं ।
वधो छेये अव्वो, सुद्धो अप्पा य छेत्तव्वो ॥४॥

व्याख्या —प्रश्न होता है कि किस उपाय से उस आत्मा को ग्रहण किया जाय ? उत्तर यह है कि प्रज्ञा–अर्थात् प्रकर्ष बुद्धि से ही शुद्ध आत्मा ग्रहण करने योग्य है, क्योकि शुद्ध आत्मा को ग्रहण करते हुये और पर से विभक्त करते हुये प्रज्ञा ही कारणभूत है। अतः जिस प्रज्ञा से विभक्त हुआ आत्मा उपलक्षित होता है, उसी प्रज्ञा से ग्रहण करने योग्य है। सम्यग् ज्ञान से विभक्त करके द्रव्य क्षेत्र काल भाव से अपने अनन्त गुण पर्याय रूप मे रमण करना चाहिये। उसी मे स्थिर उपयोग जिसका हो जाता है, वह नवीन कर्मों से लिप्त नहीं होता।

अव प्रज्ञा से आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय ? यह कहते हैं.—

पण्णाए घेत्तव्वो जो चेआ सो अह तु णिच्छय ओ ।
अवसेसा जे भावा, ते मज्झ पर त्ति णायव्वा ॥५॥

व्याख्या—जो वास्तव में स्वलक्षणावलम्बिनी प्रज्ञा से विभक्त किया गया चेतन है 'वह ही मैं हूँ' और मेरा कार्य ज्ञायकत्वादि है। और जो ये अविशिष्ट अन्य भाव हैं वे अपने लक्षण से लक्ष्य हैं। और वैसे ही व्यवहृत होते हुये दिखते हैं, वे सभी व्यापक चेतनत्व का व्याप्यत्व न मिलने से मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, अतः मैं ही, मेरे द्वारा ही, मुझको ही, मुझ से ही, आज ही मुझको, ग्रहण करता हूँ। वह चेतन अनेक क्रिया वाला होने से आत्मा को चेताता हुआ ही चेतता है। चेतायमान होने पर चेत जा! अर्थात् चिन्मय ज्ञानमय होजा! क्योंकि चेतायमान को चेताता हू। चेतायमान से ही चेतता हूँ, चेतमान को ही चेताता हूँ। अथवा जो अचेत है, सावधान नही है, उसे भी चेतना से चेताता-सावधान करता हूँ। न मै जड हू, न जड़ का भोगी हू; किन्तु सर्वथा विशुद्ध चिन्मात्र भाव हू।

ज्ञात्वा स्व च पर च लक्षणवशाद् भेद च कृत्वा द्विधा,
ज्ञानानन्दमयं महोदयपदं संगृह्य य सस्थित.।
सोऽह कारक चक्रतो निजगुणे तादात्म्यभाव गतः,
सत्ताऽऽविष्करणा द्विशुद्ध ममल रूप स्वकीय श्रितः ॥२॥

अर्थ—जो आत्मा स्व और पर को उनके लक्षण से जानकर दोनो मे भेद करके दोनो को पृथक् करके, अपने ज्ञानानन्दमय महोदय पद को, सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके, सुष्ठु प्रकार से स्थित होगया है। वह मैं कारक चक्र—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण से निज गुण में तादात्म्यभाव को प्राप्त हो गया हू। और सत्ता का आविष्कार-(प्रकट) हो जाने से अपने विशुद्ध मलरहित रूप को पा गया हूं।

चेतना से ज्ञानदर्शन के विकल्पो को अतिक्रमण करने से चेतयितृत्व के समान द्रष्टृत्व ज्ञातृत्व को जानकर उन्हें आत्मा को स्वलक्षण जाने। अर्थात् ज्ञातृत्व द्रष्टृत्व तो आत्मा के ही लक्षण हैं।

अत. मैं द्रष्टा आत्मा को ग्रहण करता हू। जिसे ग्रहण करता हूँ, उसे देखता हूँ। देखता हुआ देखता हूँ, देखने वाले को ही देखता हूं, अथवा पर को न देखता हुआ देखता हूँ। न देखते हुये को देखता हूँ, किन्तु सर्व विशुद्ध दृग् मात्र भाव हूँ। और ज्ञाता आत्मा को ग्रहण करता हूँ, जिसे ग्रहण करता हूँ, उसे जानता हूँ, जानते हुये को जानता हूँ, न जानते हुये को भी जानता हूँ; किन्तु सर्व विशुद्ध ज्ञप्ति मात्र भाव हूँ। यहाँ शका करके प्रश्न कराते हैं कि चेतना जो दर्शनज्ञान विशेपात्मिका होने से कैसे दोनो रूपो का अतिक्रमण कर सकती है ? और जो चेतना के दो रूप हैं, वे दर्शन ज्ञान से हैं, अत उनका अतिक्रमण नही हो सकता। जो भी व्यतिक्रम होता है, वह सामान्य विशेप अवबोध से अतिक्रान्त हो जाय तो चेतना ही नही रहती और चेतना के अभाव मे दो दोषो की आपत्ति हो जाती है—(१) स्वगुणोच्छेदी चेतन के अचेतनता की आपत्ति होती है, अथवा (२) व्यापक भाव मे व्याप्य चेतन का अभाव होजाता है। अतः इन दो दोपो के भय से दर्शन-ज्ञानात्मिका ही चेतना स्वीकार करनी चाहिये। इस प्रकार चेता तो चिन्मय ही है। अन्य सभी भाव पर–जड के हैं; अतः अपना ही भाव ग्राह्य है। अन्य सर्व हेय है।

एकस्मिन्नपि जीवद्रव्यविपये वृत्तिर्द्विधा वर्णिता,
सज्ज्ञाना निजचेतना विदधति भावान् विशेपान् समान्।
सामान्याखिलभाववेदनपरा सद्दर्शनाचेतना,
तत्यागे जड़ता भवे दिति ततश्चैतन्यवान् चेतन. ॥३॥

अर्थ—एक जीवद्रव्य मे दो प्रकार की वृत्ति वर्णन की गई है :— एक सज्ज्ञान रूप चेतना है, जो विशेपता से सर्व भावो को जानती है। दूसरी सद्दर्शनारूप चेतना है, वह सामान्यता से अखिल भावो को जानती है। इन दोनो का त्याग कर देने से तो जडभाव की प्राप्ति हो जाय ? अत. चेतन ज्ञान दर्शनमय चेतनावान् है।

को दक्खो त पभणइ जो परभाव नियत्ति मन्नेइ ।
जो पर भाव गिण्हइ सो तेण होइ अवराही ॥६॥
अवराही सो बज्झति निरवराही न बज्झइ कयावि ।
जो निय सहाव भोई सो निस्सको सया सुहोओ ॥७॥

व्याख्या—जो पर भाव को अपना मानता है उसको दक्ष (चतुर) कौन कह सकता है ? क्योकि जो परभाव को ग्रहण करता है, वह अपराधी चोर है। "जो अपराधी है, वही बाँधा जाता है। निरपराधी कभी नही बाँधा जाता।" जो निज स्वभाव भोगी है, वही निःशक तथा सदा सुखी है। साराश कि जैसे अपराधी कभी निःशक और सुखी नही रह सकता। वैसे ही परभाव भोगी भी सुखी नही रह सकता। स्वभाव भोगी ही सुखी रह सकता है।

जो पर-जड और आत्मा के नियत अपने २ लक्षणों को जानने वाली प्रज्ञा से युक्त है, वही वास्तव मे ज्ञानी है। वह निश्चित रूप से एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है। शेष समस्त भावो को जड़-पर के जानता है। इस प्रकार जानता हुआ पर भावो को 'मेरा' कैसे कहे ? क्योकि पर-जड़ और आत्मा का स्व स्वामी सम्बन्ध असम्भव है। जड़ पुद्गल आत्मा की अपनी वस्तु नही। जो अपनी नही उसका कोई अपने आपको स्वामी कैसे कह या मान सकता है। अत. सर्वथा चिद् भाव ही ग्रहण करने योग्य है। शेष सर्व त्यागने योग्य है।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तबुद्धिनिपुणै सौख्यार्थिभि. सेव्यता,
तत्त्व ज्ञानमय सदैव परमं शुद्धस्वरूप्यस्म्यहम् ।
एते स्वात्म विलक्षणा जडमया द्रव्याः पृथग् लक्षणा,
स्ते मे नास्ति स्वरूपतो मम परद्रव्या समग्रा अपि ॥४॥

अर्थ—यह सिद्धान्त उदात्तबुद्धि निपुण सौख्याभिलाषियो को सेवन करना चाहिये कि "मैं सदैव तत्त्वज्ञानमय, श्रेष्ठ और शुद्ध

स्वरूप वाला हूँ, और ये मेरे आत्मा से विलक्षण–आत्म लक्षणविहीन जड़मय द्रव्य मुझसे भिन्न लक्षण वाले हैं, वे मेरे नही, ये सभी परद्रव्य-, जडवस्तुएं स्वरूप से मेरी नही ।" पर पर ही रहता है, वह स्व कभी नही हो सकता । अत. स्व ही मेरे है । वे मुझ मे ही है ।

जो पर भावो को ग्रहण करता है, वह चोर होता है । जो चोर है, वह अपराधी है, जो अपराधी है वह बांधा जाता है । जो चोर नही है वह अपराधी भी नही । जैसे—जगत् मे जो परधन ग्रहण रूप अपराध करता है, उसे ही बँधने की शका भय रहता है । जो पवित्र है, चोरी नही करता, उसे बँधने की शका भी नही होती । वैसे ही जो आत्मा अशुद्ध होता हुआ, पर–जड़ का ग्रहण करता है उसे बंध की शका होती है । जो शुद्ध है, पर वस्तु–जड का ग्रहण नही करता, उसके शका का भी सम्भव नहीं होता । ऐसा नियम है । अत. सर्वथा समस्त परकीय भाव के परिहार से शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिये । वैसा होने पर ही आत्मा का निरपराधित्व है । और जो निरपराधी चेतन है, वह नि शक तभी रहता है जबकि नित्य आराधना पूर्वक रहता है । उसे तो परद्रव्य परिहार से शुद्धात्म सिद्धि के सद्‌भाव से बन्ध की शका का सम्भव ही नही । अतः "एकमात्र उपयोगलक्षण शुद्ध आत्मा मैं हू" ऐसा निश्चय करता हुआ, नित्य ही शुद्धात्म सिद्धि लक्षण आराधना मे वर्तता हुआ, होने से आराधक ही होता है । जैसे कि .—

(मालिनीवृत्तम्) विषयसुखपियासावर्त्तमानस्य जन्तो,
जिनवर कथिता सत्साधनादि क्रियाऽपि ।
भवति हि भवहेतु. पुद्गलास्वाद दोषात्'
निजपरिणति रगा साधना सिद्धि हेतु ॥५॥

अर्थ.—विषयसुख की अभिलाषा–लालसा मे वर्त्तते हुये प्राणी के भगवान् जिनेश्वर देव द्वारा कही गई सत्साधनादि क्रिया भी पुद्गलास्वाद

दोष से संसार वृद्धि की निश्चय ही हेतु होती है। सिद्धि-मुक्ति की हेतु तो निजपरिणति–ज्ञानदर्शन रूप से परिणत होती हुई व उन्ही के रय में रंगी हुई साधना ही होती है।

अत आवश्यकादि–प्रतिक्रमणादि क्रिया भी निरनुष्ठान[1] ज्ञानी के शुद्ध साध्य के अवलम्बन से ही सिद्धि की हेतु बन जाती है। और जो अज्ञानी जन साधारण के प्रतिक्रमणादि हैं, वे शुद्धात्म साध्य के अभाव मे सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाली स्वय अपराध स्वरूप होने से विपकुम्भ ही है। विचार करने से क्या होने वाला है। जो एकान्त से द्रव्य रूप है, वह विधि रहित प्रतिक्रमण है, वह उस प्रकार के पुण्य-बन्ध का हेतु भी नही है, जैसा कि विधियुक्त किया गया प्रतिक्रमण जो पुण्य बन्ध का हेतु ही होता है, तथापि शुद्ध सिद्धत्व साध्य शून्य व्यक्ति के वह सर्व अपराध रूप विप वृक्ष को कर्षण करने मे असमर्थ होने से अमृतकुम्भ जैसा होने पर भी प्रतिक्रमण, कार्यरूप सवर निर्जराभूत उस प्रकार की तृतीय भूमि को नही देखता हुआ, स्वकार्य करने मे असमर्थ होने से व विपक्ष–पुण्यबन्ध का कार्य करने वाला होने से असाधक ही है। निरनुष्ठान ज्ञानी के विधि सहित भाव विशुद्धि से साध्य सापेक्ष जन के प्रतिक्रमणादि स्वय शुद्धात्मा सिद्धि रूपत्व से सर्वापराधरूप विप दोनो को सर्वथा खेंचकर दूर कर देने वाला होने से साक्षात् स्वत ही अमृतकुम्भ होजाता है। व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि का अमृतकुम्भत्व वही सिद्ध कर देता है। और उसी क्रिया के द्वारा निरपराध (पापरहित) होजाता है। अथवा चित्त मे भाव विशुद्धि का अभाव है, तो द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही रहते हैं। अत तृतीय भूमिका से ही निरपराधित्व है। यह सिद्ध होता है। उसी की प्राप्ति के लिये यह द्रव्य प्रतिक्रमणादि क्रिया है।

---

[1] कारण रूप से न करने वाले

अत साध्य के अवलम्बन द्वारा ही सर्वज्ञोक्त विधि सापेक्ष प्रतिक्रमणादि ही साधक स्वरूप हैं ।।

प्रतिक्रमण, आलोचन, क्षामणा और प्रत्याख्यान उनपचास (४९) भागो से किये जाते हैं । वे भागें निम्नाङ्कित हैं —

'तिन्ति तीया तिति दुआ तिनि विकक्काय हुंति योगेसु ।
ति दु इक्क ति दु इक्कं हुंति करणेसु ।। १ ।।
पढमे लब्भइ एगो सेसेमु पए सु ति अ ति अ नि अ नि ।
नव नव तितिग नव नव भगा गुणवन्ना विरइए ।। २ ।। "

अर्थ —इनमे से प्रथम भग त्रिविध त्रिविध से अर्थात् मनोवाक्काय से कराना और अनुमोदना रूप है, वह नवकोटि विशुद्ध मुनियों के होता है । वे मन, वचन और काय इन तीनो योगों से सावद्य कार्य न करते हैं, न कराते हैं, और न सावद्यकार्य की अनुमोदना करते हैं । एतल्लक्षण त्याग सर्व विरतियो के है । तथा मनोवाक् काय योगोद्वारा जो सावद्य कार्य न स्वय करता है न कराता है, यह प्रत्याख्यान उत्कृष्ट देशविरति श्रावको के होता है । (जबकि वे सामायिक पौषध मे या इग्यारवी प्रतिमा के धारक हो) उनके योगत्रिक से सावद्य की अनुमोदना शेष रहती है । करने और कराने की नही, और यह सामायिक पौषधादिस्थित देशविरति के ही होता है, उन्ही के करने का प्रत्याख्यान है । वह स्वाधीन ऐश्वर्यवान् श्रावक आत्मा के द्वारा पराधीन दासादि द्वारा किये जाने वाले कार्य मे अनुमोदन रूप होता है । अनुमोदन का प्रत्याख्यान मूल गुण वाले देशविरति के लिये अशक्य व दुर्लभ ही है । अनुमोदन न रहे तो मुनित्व का प्रसङ्ग आ जाता है । वह दिग्व्रती[1] नही रहता । अर्थात् श्रावक नही रह जाता । उत्तर गुण में तो विगय रुचित्तादि के प्रत्याख्याग मे अनुमोदना का

---

[1] अणुव्रतधारी

धर्मार्थि किये गये ये अशुद्ध करने पर भी,त्यागादि क्षयोपशम के हेतु है। तत्काल गुण प्राग्भाव भले न हो; तथापि सानुष्ठानो के धर्मनिष्पादन व गुण प्राग्भाव का हेतुत्व इनमे ही है। सामान्य वुद्धिविहीन जनो के तो ये बालक्रीड़ावत् हैं, यह जानना चाहिये। उस प्रकार वुद्धिहीन जनों में इनके करने पर किन्ही को गुण लाभ देखा जाता है, और वह तत्काल स्वाभाविक रूप से किया गया अनुष्ठान त्याग में, धर्म मे, अभिलाषा होने पर गुण की उपलब्धि भी है ही; क्योकि पोद्गलिक सुखो की आशखा दोष रूप है, वह नही होती। और जो पहले विधि रहित अनुष्ठान करने वालो को भी वैसा करने का उपदेश किया गया है। वह तो उन मोहग्रस्त जीवो को सत्सगादि का निमित्त है. क्योकि कभी सत्सगति से धर्म की प्राप्ति भी होगी। जैसे नागिला के पति भवदेव की प्रयज्या जो द्रव्य थी, वह भी भविष्य मे शासनप्रभावनादि के लिये वन गई। द्योकि 'गुरुणो जाणंति गुणा' इस वाक्य से यह सिद्ध है कि क्या गुण है ? यह तो गुरुजन ही जान सकते हैं। तथा अभ्यास आदि के लिये की गई क्रिया भी उस प्रकार के व्यक्तियो को यद्यपि उस अवसर पर गुणित्व के लिये नही वनती; फिर भी अभ्यास के लिये धर्म को प्रकट करने की इच्छा सभी को करने योग्य है। तथापि सवरत्व तो यथार्ड मार्ग मे ही है। इत्यादि कहा गया है। जैसे महानिशीथ-अध्ययन मे मुखवस्त्रिकादि भी लक्षण युक्त भी द्रव्यालङ्गी असयत कहे गये है। एव अतिमुक्तक निर्ग्रन्थ के अधिकार मे, अतिमुक्तक ने जलक्रीड़ा की आलोचना तक भी नही की फिर भी केवलज्ञान होगया। तथा सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्र परिणतात्मा आवश्यकादि क्रिया मे उपयोग सहित प्रवृत्त हुआ, पूर्वकर्म को निर्जरा करता हुआ, सवरी, अप्रमत्तदशा में स्थित है, धर्मध्यान के अवलम्बन से क्षयक परिणाम को प्राप्त असंख्य गुण विशुद्धि से असख्यगुण निर्जरा वाला होता है। क्षपक श्रेणी का स्वरूप यों है —

अणमिच्छमीस सम्मतिआउ इग विगल थीण तिगुज्जो अ।
तिरि नरय थावर दुग साहारायव अउनपुत्थीए ।। ९६ ।।
छग पुं संजलणा दो निद्द विग्घ वरण क्खए नाणी।

(पंचमकर्मग्रन्थ)

अर्थ.—अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, मनुष्यायु के बिना तीन आयु, एकेन्द्रियजाति, विकलत्रयजाति, स्त्यानर्द्धि त्रिक् (निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि) उद्योत, तिर्यञ्चगति, तिर्यगानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, हास्यषट्क, पुरुषवेद, संज्वलन कषाय चतुष्क, निद्रा, प्रचला, पाँच अन्तराय, पाँच ज्ञानावरण, और चारदर्शनावरण इन ६३ प्रकृतियों का क्षय करने पर जीव केवलज्ञानी होता है। विस्तृत स्वरूप कर्मग्रन्थ मे देखना चाहिये। यहाँ केवल क्षय होने वाली प्रकृतियों के नाम मात्र दिये हैं। पुनः प्रतिक्रमण की महत्ता बतलाते हैं। कहा है कि :—

"कम्मं जं पुव्वकयं, सुहासुहं मणेय वित्थरविसेसं ।
तं ओ णियत्तए अप्पयं तु जो सो होइ पडिक्कमणं ।।"

अर्थ —शुभ अशुभादि रूप अनेक विस्तार विशेष रूप जो पूर्वकृत कर्म हैं; उनसे आत्मा को निवृत्त करदे-पृथक् करदे-वही वास्तविक प्रतिक्रमण है।

जो आत्मा प्रमादयुक्त है, वह शुद्ध भाववाला कैसे हो सकता है ? कषाय के भाव की गुरुता से जो अलसता होती है, वही प्रमाद है। अतः स्वरस, निर्भर नियमित स्वभाव को प्राप्त होता हुआ मुनि परमशुद्धता को पाता है। और शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यह कैसे होता है ? वही बतलाते हैं—

(उपजाति वृत्तम्)

त्यक्त्वास पर द्रव्य प्रचारभोगं, स्वद्रव्यभोगाद् लभते स्वरूपम् ।
सर्वापराधत्यजनेन शुद्ध स्तत्त्वामृतास्वादरतो विशुद्ध. ॥ ६ ॥

अर्थः—जो परद्रव्यपुद्गल के प्रचार भोग का परित्याग करके, स्वआत्म द्रव्य के भोग से स्वरूप को प्राप्त करता है; वह सर्व अपराध-दोष-पाप को छोड़ देने से शुद्ध हुआ, तत्त्वामृत के आस्वादन मे लगा हुआ विशुद्ध बन जाता है। विशुद्धात्मा के बन्ध का अभाव हो जाता है। सिद्ध कैसे होता है ? यह कहते है :—

(मन्दाक्रान्ता वृत्तम्)

बन्धा भावान्निजपदगतोनिर्जरत्कर्ममुक्तो,
नित्योद्योत स्फुरित सहजावस्थमात्मस्वरूपम् ।
कृत्वा भुञ्जन् गुणपरिणतिं सच्चिदानन्दमग्न,
शुद्ध· सिद्धो जयति नियत दर्शनज्ञानलीन ॥ ७ ॥

अर्थ.—बन्ध के अभाव से स्वरूप को प्राप्त आत्मा निर्जरते हुये; अर्थात् आत्मा से पृथक् होते हुये कर्मों से मुक्त हो जाता है। और नित्य उद्योतित स्फुरित सहज अवस्था वाले आत्मस्वरूप को प्रकट करके गुणपरिणति को भोगता हुआ सच्चिदानन्द मे मग्न बन जाता है। ऐसा शुद्ध नियत दर्शनज्ञान में लीन सिद्ध जयवन्त है।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचतेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनामदेशनासारे मोक्षनिरूपणोनामाऽष्टमोऽधिकारः ।

अथ शुद्ध उपदेश रूप नवम अधिकारः

जो आत्मा सद्गुरु के वचनोपदेश सुनने से शुद्ध साधना के उद्यम में लगा हुआ है, पूर्ण शुद्धानन्द को सिद्ध करना चाहता है और तत्त्व प्राप्त करने का अभिलाषी है, वह जिज्ञासु बना हुआ मोक्ष मार्ग के अभिमुख होता है।

कत्ता भोत्ता भावो नो परभावाण क पि दव्वम्मि ।
अन्नाणेण जीवे न नाणे तस्स ओ अभावो ।। १ ।।

व्याख्या.—किसी भी द्रव्य मे परभावो का कर्तृत्व और भोक्तृत्व नही है। अत. परभाव कर्तृत्व जो जीव मे हो गया है, वह अज्ञान से है। जीव के ज्ञान के अभाव मे हुआ है। यथार्थ ज्ञान होने पर उसके परभाव के कर्तृत्व का अभाव हो जाता है। अत. यथार्थ ज्ञान से कर्तृत्वादि भाव चले जाते हैं।

दव्वा ज उपज्जइ त गुण तेण सो अभिन्नोत्ति ।
जह कु डलाइ भावे कणायं एगत्तणेणेव ।। २ ।।
जीवस्साजीवस्स उ जे सभावा पयासिया सुत्ते ।
जीवाजीवा दव्वा तेसि मभिन्ना वियाणाहि ।।३।।
सजोगे जे जाया तेन कज्ज तु तस्स दव्वस्स ।
कारणजोगे सति कारण चाए न ते हुति ।। ४ ।।
कज्ज पडुच्च कत्ता कत्ताण तह पडुच्च कज्जाणि ।
उप्पज्जति णियमा सिद्धि उ न दीसइ अन्ना ।।५।।

व्याख्या:—द्रव्य से जो उत्पन्न हो, वह उस द्रव्य का गुण होता है और वह उस द्रव्य से अभिन्न होता है जैसे कुण्डलादि भाव मे स्वर्ण की एकता है। जीव और अजीव के जो जो स्वभाव सूत्र में

(उपजाति वृत्तम्)

त्यक्त्वास पर द्रव्य प्रचारभोगं, स्वद्रव्यभोगाद् लभते स्वरूपम् ।
सर्वापराधत्यजनेन शुद्ध स्तत्त्वामृतास्वादरतो विशुद्ध ॥ ६ ॥

अर्थः—जो परद्रव्यपुद्गल के प्रचार भोग का परित्याग करके, स्वआत्म द्रव्य के भोग से स्वरूप को प्राप्त करता है; वह सर्व अपराध-दोष-पाप को छोड देने से शुद्ध हुआ, तत्त्वामृत के आस्वादन मे लगा हुआ विशुद्ध बन जाता है। विशुद्धात्मा के बन्ध का अभाव हो जाता है। सिद्ध कैसे होता है ? यह कहते है —

(मन्दाक्रान्ता वृत्तम्)

वन्धा भावान्निजपदगतोनिर्जरत्कर्ममुक्तो,
नित्योद्योत स्फुरित सहजावस्थमात्मस्वरूपम् ।
कृत्वा भुञ्जन् गुणपरिणति सच्चिदानन्दमग्न,
शुद्ध. सिद्धो जयति नियत दर्शनज्ञानलीन. ॥ ७ ॥

अर्थः—वन्ध के अभाव से स्वरूप को प्राप्त आत्मा निर्जरते हुये; अर्थात् आत्मा से पृथक् होते हुये कर्मों से मुक्त हो जाता है। और नित्य उद्योतित् स्फुरित सहज अवस्था वाले आत्मस्वरूप को प्रकट करके गुणपरिणति को भोगता हुआ सच्चिदानन्द में मग्न बन जाता है। ऐसा शुद्ध नियत दर्शनज्ञान में लीन सिद्ध जयवन्त है।

इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि विरचितेऽध्यात्मप्रबोधेऽपरनामदेशनासारे
मोक्षनिरूपणोनामाऽष्टमोऽधिकारः ।

अथ शुद्ध उपदेश रूप नवम अधिकारः

जो आत्मा सद्‌गुरु के वचनोपदेश सुनने मे शुद्ध साधना के उद्यम मे लगा हुआ है, पूर्ण शुद्धानन्द को सिद्ध करना चाहता है और तत्त्व प्राप्त करने का अभिलाषी है; वह जिज्ञासु बना हुआ मोक्ष मार्ग के अभिमुख होता है।

कत्ता भोत्ता भावो नो परभावाण क पि दव्वम्मि ।
अन्नाणेण जीवे न नाणे तस्स ओ अभावो ॥ १ ॥

व्याख्याः—किसी भी द्रव्य मे परभावो का कर्तृत्व और भोक्तृत्व नही है। अत परभाव कर्तृत्व जो जीव मे हो गया है, वह अज्ञान से है। जीव के ज्ञान के अभाव मे हुआ है। यथार्थ ज्ञान होने पर उसके परभाव के कर्तृत्व का अभाव हो जाता है। अत यथार्थ ज्ञान से कर्तृत्वादि भाव चले जाते हैं।

दव्वा ज उपज्जइ त गुण तेण सो अभिन्नोत्ति ।
जह कुडलाइ भावे कणाय एगत्तणेणेव ॥ २ ॥
जीवस्साजीवस्स उ जे सभावा पयासिया सुत्ते ।
जीवाजीवा दव्वा तेसि मभिन्ना वियाणाहि ॥३॥
सजोगे जे जाया तेन कज्ज तु तस्स दव्वस्स ।
कारणजोगे सति कारण चाए न ते हुंति ॥ ४ ॥
कज्ज पडुच्च कत्ता कराण तह पडुच्च कज्जाणि ।
उप्पज्जति णियमा मिद्धि उ न दीसइ अन्ना ॥५॥

व्याख्याः—द्रव्य मे जो उत्पन्न हो, वह उस द्रव्य का गुण होता है और वह उस द्रव्य से अभिन्न होता है जैसे कुण्डलादि भाव मे स्वर्ण की एकता है। जीव और अजीव के जो जो स्वभाव सूत्र मे

प्रकाशित किये हैं, उन उन से जीव अजीव द्रव्यों को अभिन्न जानना चाहिये। सयोग से जो हो गये वे उस द्रव्य के कार्य नही; क्योकि वे निमित्त कारण से होते हैं। जैसे जीव के मिथ्यात्वादि कारणों से वन्ध होता है। और इन कारणो के न होने पर वन्ध भी नही होता। जीव के स्वभाव ज्ञानादि है, और अजीव के जडत्वादि।

कार्य का उद्देश्य करके कर्त्ता और कर्त्ता के आधीन कार्य उत्पन्न होता है। ऐसा नियम है। क्योकि जीव भी क्रमनियमित आत्म परिणामो से उत्पन्न मान होने से जीव है। इसी प्रकार अजीव भी अजीव के क्रमनियमित परिणामो से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है। अन्य नही। सर्व द्रव्यो के अपने अपने परिणामो से उत्पद्यमान भावो के होने से जीव अजीव के साथ कार्य कारण भाव सिद्ध नही होता है। क्योकि सभी द्रव्यो का अन्य द्रव्यो के साथ उत्पादक भाव का अभाव है। यदि ऐसा न होता तो जीव का अजीव कर्तृत्व सिद्ध हो जाता, और कर्त्ता कार्य तो अन्योन्य सापेक्ष है, अतः 'जीव अजीव कर्त्ता नही।' यह जानना योग्य है। वह आत्मा अनादि काल से ही प्रतिनियत स्वलक्षण ज्ञान के आवृत रहने से स्वपर के एकत्व अभ्यास के कारण कर्त्ता वना हुआ, प्रकृति निमित्त उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मता मरता है। तथा प्रकृति भी-शरीरादि जड़ भी उत्पत्ति विनाश को प्राप्त होती है। इस प्रकार आत्मा व प्रकृति का कर्त्ता और कार्य मे भाव अभाव भी अन्योन्य निमित्त नैमित्तिक भावो द्वारा है इससे दोनो का ही पारस्परिक सम्वन्ध होता है; और इसी से ससार-जन्ममरण है। तथा इसी कारण से चेतन का कर्त्ता कर्म व्यवहार है।

जव तक यह आत्मा प्रतिनियत स्वलक्षण के अज्ञान से उदयागत प्रकृति विपाक को स्वस्वरूप से भोगता हुआ, आत्मा के वन्ध होने के निमित्त मिथ्यात्वादि को नही छोड़ता, तव तक स्वपर के

एकत्व का ही ज्ञायक रहता है, और स्वपर के एकत्व निर्धारण के कारण मिथ्यादृष्टि रहता है अथवा स्वपर की एकत्व परिणति से ही असयत वना रहता है। तथा तव तक ही पर और आत्मा के एकत्व का अभ्यास करने से पर कर्त्ता होता है। और जब यही आत्मा प्रतिनियत स्वलक्षण निज ज्ञानादि से प्रकृति और उसके विपाक को परत्व से जानता हुआ, वन्ध के निमित्तो का परित्याग कर देता है. तव स्व पर को स्व ज्ञान द्वारा भिन्न जानने वाला होजाता है। और उसी प्रकार के निर्द्धारिण से सम्यग्दृष्टि वनता है। तथा स्वपर के विभाग की परिणति से सयत-सयमी वन जाता है। और तभी स्वपर के एकत्व का अभ्यास न होने से पर का अकर्त्ता होता है।

(अनुष्टुप्) कर्तृत्व भुञ्जकत्व च पराणा न स्वभावता ।
अज्ञानज परिणाम ज्ञानोदये निवर्त्तते ॥ १ ॥

अर्थ.—परवस्तुओ का कर्त्तृत्व और भुञ्जकत्व आत्मा के स्वभाव से नही होता, वह भाव-कर्त्ता भोक्ताभाव तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ परिणाम है जो ज्ञान से ही अथवा ज्ञान का उदय होने पर हटता है।

अन्नाणी कम्मफल णियरूव जाण भुजेइ ।
नाणी कम्मविवाग भुंजतो नो रमइ तत्थ ॥ ६ ॥

व्याख्या —वास्तव मे अज्ञानी शुद्ध आत्मज्ञान के अभाववश स्वपर के एकत्व ज्ञान से और स्वपर की एकता के निर्द्धारण (निश्चय) से तथा स्वपर की एकत्व परिणति से प्रकृति स्वभाव में स्थित होने के कारण प्रकृति स्वभाव को अहतया (मैं रूप) अनुभव करता हुआ कर्मवन्ध करता है। ज्ञानी शुद्ध आत्मज्ञान के सद्भाव से स्वपर के विभाग ज्ञान से, वैसा ही निर्द्धारण करने से और स्वपर की एकत्व अपरिणति से प्रकृति-जड स्वभाव से दूर हटा हुआ होने से, शुद्ध आत्तस्वभाव को ही अहतया अनुभव करता हुआ, कर्मफल के उदय को ज्ञेयमात्र रूप जानता है। उस कर्म का अहंतया अनुभव नहीं

नही करता। अर्थात् शुभाशुभ उदय मे ऐसा अनुभव नही करता कि मैं सुखी दुःखी हूँ। अत. उस आत्मज्ञानी के वेद्यमान कर्म होने पर भी अव्याकुलता होने से बन्ध वह अबन्धक ही रहता है। अज्ञानी तो विपाक भोग मे रमण से नित्य बन्धक होता है। ज्ञानी जो कि स्वात्म गुणो मे रमण करता है, कदापि बन्धक नही बनता। यही कहते हैं :—

(शार्दूलविक्रीडित वृत्तम्)

अज्ञानी तु विपाक भोगरमणान्नित्य भवेद् बन्धको,
ज्ञानी स्वात्मगुणेषु रम्य रमणो नो जातुचिद् बन्धकः।
इत्येवं नियत विभज्य विबुधै रज्ञानता त्यज्यता,
शुद्धे स्वात्म धने रमन्ति निपुणाः सेवन्ति सज्ज्ञानताम् ॥१॥

अर्थ.—अज्ञानी तो विपाक भोग मे रम जाने से सदा बन्धक रहता है; और ज्ञानी स्वात्म गुणों मे रमकर उन्ही मे रमण करता है; अतः वह कदापि बन्धक नही होता। ऐसा निश्चय से है अत पण्डितजन स्व पर का विभाग करके अज्ञानता का परित्याग करे। निपुण व्यक्ति वे ही हैं; जो अपने शुद्ध आत्म धन मे रमते हैं और उत्तम ज्ञान का अभ्यास करते हैं, या सेवा करते है।

जैसे यहाँ ससार मे विषधर शर्करामिश्रित दुग्ध पिलाने पर भी विषभाव का परित्याग नही करता; वैसे ही निश्चित्त रूप से अभव्य जीव अनेक शास्त्रों का अभ्यास कर लेने पर भी मिथ्याज्ञान से अज्ञानी होने के कारण पुद्गल भोगित्व से विरक्त नही होता। ज्ञानी तो यथार्थ श्रुतज्ञान लक्षण है, शुद्ध आत्मज्ञान के सद्भाव से पर-पुद्गल-जड़ से अत्यन्त विरक्त होने के कारण परभो[illegible] स्वय ही छोड़ देता है। मधुर अथवा कटुक उदय मे आ[illegible] ज्ञाता होने से केवल ऐसा जानता है, न कि उन्हे [illegible] करता है। अतः ज्ञानी स्वरूप मे ही रमता है। कर्मचेतना शून्यत्व द्वारा व कर्मफल शून्यत्व से स[illegible]

होने से और अवेदित्व होने से न कर्म करता है, न वेदता है, किन्तु ज्ञान चेतनामयत्व से केवल ज्ञातारूप होने से कर्मबन्ध और कर्मफल को वह शुभ हो या अशुभ मात्र जानता है। स्वामित्व भाव से ग्रहण नही करता, अतः अबन्धक है।

दिट्ठि जहेह णाण अकारय तह अवेदयं चेव ।
जाणाइ अ बध मुक्ख कम्मुदय निज्जर चेव ॥ ७ ॥

व्याख्या —जैसे इस लोक मे दृष्टि दृश्य से अत्यन्त विभक्त (पृथक्) होने से उस दृश्य को करने या वेदने मे असमर्थ होने के कारण दृश्य को न करती है, न भोगती है। क्योकि यदि कर्तृत्व भोक्तृत्व माना जाय तो अग्नि के देखने से सन्धुक्षकवत्[1] स्वय अग्नि जलाने वाले को भी लोह पिण्डवत् उष्णता के अनुभवन का दुर्निवारत्व प्राप्त होगा। किन्तु दृष्टि का स्वभाव मात्र दर्शन करना है, अत वह सर्व को केवल देखती है। वैसे ही ज्ञान भी स्वय ज्ञायक होने से कर्म से अत्यन्त विभक्त (पृथक्) होने के कारण निश्चय से कर्म को करने और वेदने मे असमर्थ होने से, न कर्म करता है और न वेदता है, किन्तु केवल ज्ञान मात्र स्वभाव से बन्ध को या मोक्ष को जानता है। निर्जरा को भी जानता है। और जो आत्मा को कर्त्ता रूप से अज्ञान के कारण जानता है, उसके सामान्य जनवत् न निर्जरा है न मोक्ष, केवल बन्ध ही है।

अण्णाणी मूढप्पा परदव्व अप्पय तु मन्नेति ।
नाणी जहडदोहि आयसहानं निय भणइ ॥ ८ ॥

व्याख्या.—अज्ञानी विमूढ आत्मा परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसा देखते मानते है। ज्ञानिजन तो–जो निश्चय से यथार्थ प्रतिबुद्ध है; वे अणुमात्र परद्रव्य को भी 'यह मेरा नही है' ऐसा देखते हैं। जैसे इस लोक मे कोई व्यवहार मूढ व्यक्ति–जो अन्य ग्राम मे रहने वाला है, वह पराये

---

[1] लोहार

ग्राम को 'यह ग्राम मेरा है' इस रूप से देखता हुआ मिथ्यादृष्टि और झूँठा-असत्यभाषी है। वैसे ही अशुद्ध आत्मा व्यवहार मूढ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' ऐसे देखे तो वह भी परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही है। अत. तत्त्वज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण परद्रव्य को 'यह मेरा नही' यह जानकर परद्रव्य कर्तृत्व के व्यवसाय से मुक्त है; अतः वह सम्यग् दर्शन वाला है।

एकस्य वस्तुनो नान्य. कर्त्ता भवति कर्हिचित्।
परानुगत चैतन्यो विभाव प्रकरोत्ययम्॥ ३॥

अर्थ.—किसी एक की वस्तु का कर्त्ता अन्य कभी नही होता, किन्तु यह चैतन्य परानुगत बना हुआ है, इससे विभाव का कर्त्ता बना हुआ है। वास्तव में है नही; किन्तु परानुगत होने से स्वय को कर्त्ता मान रहा है।

अतः मिथ्यादृष्टि की चेतना वीर्यादि को स्वक्षयोपशमीभूत होने से वह परभावादि मे स्वामित्व भोक्तृत्व आदि करता हुआ, शुभाशुभ विभाग से इष्टता अनिष्टता करता हुआ रागद्वेष रूप से चेतना को परिणत करता हुआ रागद्वेष रूप भाव कर्म का कर्त्ता होता है। भाव कर्म को प्राप्त हुआ स्वक्षेत्रगत पुद्गलो को आत्म प्रदेशो के साथ लोलीभूत[1] करता है। इस से कर्म का कर्त्ता होगया। वही आत्मा सम्यक्त्वी होने पर स्वचेतना वीर्यादि को स्वगुणादि मे नियुक्त करता हुआ पर का अग्राहक होने से अभिनव कर्मों का अग्राहक होता है। इस प्रकार वर्द्धमान (बढ़ते हुये) अग्राहक भाव वाला आत्मा सर्व स्वक्षयोपशमज गुण परिणाम को स्वरूपानुग करता है; तब सर्वथा संवरी होता है। ऐसा जानकर परभाव से स्वशक्ति का रोधन नहीं होने देता और आत्मा शुद्ध बनता जाता है। यह सिद्धान्त है।

---

[1] एक रूप

जैसे शिल्पी–स्वर्णकार आदि कुण्डलादि परद्रव्य परिणामात्मक कर्म हथोडे आदि से करता है, वह परद्रव्यपरिणमात्मक साधनो से करता है। ग्राम्य जनादि परद्रव्य परिणामात्मक कुण्डलादि का लाभ और फल एकद्रव्य से भोगता है। नकि अनेक द्रव्यत्व से। स्वर्णकार अन्यत्व होने पर भी वनाने मे तन्मय होता है, फिर निमित्त नैमित्तिक भाव मात्र से ही उसमे कर्त्ता कर्म और भोक्तृत्व व्यवहार है। उसी प्रकार आत्मा भी पुद्‌गलद्रव्य परिणामात्मक मन वचन काया से रूप साधनो से पुद्‌गल परिणामात्मक पुण्यपापादि कर्म करता है। पुद्‌गल द्रव्यपरिणामात्मक योग–साधन ग्रहण करता है। पुण्यपापादि कर्म फल जो सुख दु खादि पुद्‌गल द्रव्य परिणामात्मक हैं, उन्हे भोगता है। अनेक द्रव्यत्व होने पर भी एकत्व से तन्मय होता है। अत निमित्त मात्र से ही उसमे कर्त्ता कर्म का और भोक्ता भोग्य का व्यवहार है। और जैसे वह शिल्पी करने की इच्छा से चेष्टा करता हुआ कुण्डल वना लेता है और पारिश्रमिक फल भोगता है। वैसे ही आत्मा भी करने का इच्छुक वना हुआ चेप्टा रूप कर्म को आत्म-परिणामात्मक करता है और उसका फल भी एक द्रव्यत्व से भोगता है, अन्यत्व होने पर तन्मय नही हो सकता। अत परिणामी भाव मे उसके कर्तृत्व भोक्तृत्व होगया है फिर भी वह उसका धर्म नही, यह आशय है। जो वस्तु अन्य है; वह अन्य वस्तु स्वय से अतिरिक्त वस्तु को नही कर सकता; यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से वैसा दिखता है, परन्तु निश्चय मे वैसा कुछ है नही। इसको समझने के निम्नाङ्कित दृष्टान्त को लीजिये :—

जैसे खड़िया श्वेतगुण युक्त है, वह भित्ति (दीवार) आदि पर लगाई जाती है, दीवार को लोग श्वेतभित्ति कहते हैं; तथापि भित्ति भित्ति है, खडिया खड़िया ही। इसी प्रकार पुद्‌गलादि के ससर्ग से जीव सकर्मकत्व को प्राप्त होने पर भी जीव जीव ही है और

कर्मस्कन्ध पुद्गल । कोई भी द्रव्य द्रव्यान्तरत्व को प्राप्त नही होता । अर्थात् अन्यद्रव्यरूप नही वनता । आत्मा के दर्शनज्ञानादि गुणों का घात आत्मा के परकर्तृत्व भाव मे होता है । अतएव परकर्तृत्व भाव को ही निवारण कर देना चाहिये और वह परकर्तृत्व का भाव परभोक्तृत्व भाव के चले जाने पर ही जाता है ।

णाणस्स दसणत्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
ण तेहिं पुग्गलदव्वस्स को वि घाओ जिणुद्दिट्ठो ।। ९
जीवस्स जे गुण केई णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स तत्थि रागो हु विसयेसु ।। १०
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव अणण्ण परिणामा ।
ण्ण्ण कारणेण सद्दाइसु णत्थि रागाइ (रागादि) ।। ११

व्याख्या —त्रिकला[1] जहाँ जहाँ होती है, वहाँ वहाँ उसके ध्यान से नष्ट होती है । जैसे—दीपक का घात होने पर प्रकाश भी नष्ट हो जाता है । जिसमे जिससे जो होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता है । जो जिसमे जिससे नही होता; वह उसके नष्ट होने पर भी नष्ट नहो होता । जैसे–प्रदोप के नष्ट होने घट नही नष्ट होता और घट के नष्ट होने पर प्रदीप नष्ट नही होता । क्योकि दोनो अन्य अन्य है । एक दूसरे के गुण नही । ठीक इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान दर्शन चारित्रादि धर्म पुद्गलद्रव्य के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नही होते, न दर्शनज्ञानादि का घात होने पर पुद्गलद्रव्य नष्ट होता है, एव दर्शन ज्ञानचारित्र पुद्गलद्रव्य मे नही होते । यह सिद्ध हुआ, अन्यथा पुद्गल के नष्ट होने पर ज्ञान दर्शन का और ज्ञानदर्शन का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात दुर्निवार होता । क्योकि इस प्रकार जो जितने कुछ गुण जीव के हैं, वे सभी परद्रव्यो में नही है । प्रश्न होता है कि यदि ऐसा है, तो सन्यग्दृष्टि के विषयादि में राग कैसे होता है ? जव कि

---

[1] समझ मे नहीं आया

राग द्वेष, जीव का स्वरूप नही है। तव रागद्वेष के भाव कहाँ से उत्पन्न होते है ?

इसका उत्तर देते हैं—ज्ञान दर्शनादि गुण जीव से अविभक्त है, इनके आवरण के क्षयोपशम से विशेष सामान्य उपयोग की जो प्रवृत्ति होती है, वह कषायोदम से कलुषित की गई होती है, परभाव भोक्तृत्व द्वारा शुभाशुभ परभाव विभाग से प्रवृत्त होती हुई, इष्टानिष्ट रूप से जानी जाती हुई, रागद्वेषपरिणतिरूप होती है। अत रागादि पुद्गल गुणो का भी, जीव के मूल स्वभाव से भिन्नत्व है वे जीव के स्वभाव से भूल गुण नही; अपितु पुद्गल के ही स्वाभाविक गुण है जो जीव गुण रूप चेतना है, वही पर सयोग से तथा रूप परिणत होती हुई रागादि-रूप हो गई है, इसीलिये इन्हे रागादि को अनन्य परिणाम' कहा गया है। क्योकि ये जीव से अन्य-धर्मास्ति आदि ५ द्रव्यो मे नही मिलते। जीव के ही प्राप्त होते हैं। कहा है .—

(मन्दा क्रान्ता वृत्तम्)

रागद्वेषाविह हि भवत ज्ञानमज्ञातभावात्
तौ वस्तुत्वे प्रतिनियत दृशा दृश्यमानौ न किञ्चन् ।
सम्यग्दृष्टि' क्षपयति तत स्तत्व दृष्टया स्फुट तौ,
ज्ञानज्योति ज्वंलति सहज येन पूर्णाचलार्चिवः ॥ १ ॥

अर्थ.—इस जगत मे रागद्वेष, ज्ञान के अज्ञान भाव से होते है। अर्थात् मिथ्यात्ववश जन ज्ञान अज्ञानरूप बनता है; तव आत्मा रागद्वेषरूप दोष करता है। वे वास्तव मे निश्चय दृष्टि मे देखने पर कुछ नही है। अर्थात् आत्मा के स्वय के नही। अत. सम्यग्दृष्टि उन्हे तत्त्वदृष्टि से स्पष्ट क्षय करता है, जिससे पूर्ण और अचल किरणो युक्त सहज ज्ञानज्योति प्रज्वलित हो जाती है।

रागद्वेषोत्पादक तत्वदृष्टया, नान्यद् द्रव्य वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
जीवद्रव्योरनन्तचैतन्यव्यक्ति रन्यद् द्रव्यान्तिको जायते तो ॥२॥

अर्थ.—तत्वदृष्टि से देखनेवाला तो इन राग द्वेष के भावो का उत्पादक स्वय की ही अन्य-जड़ मे आसक्त वृत्ति को ही मानता है और उसे आत्मा का अहित करने वाला समझता है। अज्ञानवश जीव के चैतन्य की व्यक्ति राग द्वेष रूप से होती रहती है। अज्ञान- (जीव व-जड़ को एक रूप मानने की मिथ्या धारणा) जव दूर हो जाता है तो राग द्वेष स्पष्ट पृथक् भासने लगते है।

यहाँ शका होती है कि यदि एक क्षेत्रगत पुद्गल आत्म गुणो का आवरण करने वाले नही है; तो वे कर्मरूप से ग्रहण किये गये आवारक (ढँकने वाले) कैसे वन जाते हैं ?

इसका उत्तर देते हैं.—कि जीव और पुद्गलो की पर परणामिकता की परिणति निमित्त योग से है; इससे जीव, पुद्गलभोगासक्ति के निमित्त से रागद्वेप परिणति उत्पन्न करता है। निमित्त का सर्वथा त्याग कर देने पर राग द्वेष परिणति नही होती। रागद्वेप द्वारा गृहीत कर्मवर्गण स्कन्धो मे ही आवारकता होती है। तव शका होती है कि क्षीण मोहादि में परभोगित्व होने पर भी राग द्वेष का अभाव कैसे हो जाता है. उत्तर यो है:—उनके चारित्रगुण के सम्पूर्ण प्राग्भाव से पररमणता के स्थान पर स्वरमणता भाव से भोगित्व है ? नकि परभोगित्व ? तव सयोगि केवलि के अघाति का उदय कैसे रहता है ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका भी उत्तर देते हैं—अघाति का उदय अव्याबाधादि गुणो को आवृत करने रूप है नकि परभावानुभवनरूप। यह जानना चाहिये। और जैसे ब्राह्मी आदि औषधियाँ भक्षण करने पर क्षायोपशमिकी बुद्धि की वृद्धि होती है और वृताक (बैंगन) तरवूज दधि आदि खाने पर वुद्धि का ध्वस होता है। अत वैसे ही जीव और पुद्गल निमित्त रागादि योग से अन्य परिणति रूप परिणमते है। अत. आत्म-सुखाभिलाषीजन परभावभोगित्व का परित्याग करदें।

अन्न दविण अन्न दवियस्स णो कीरइ गुणुप्पाओ ।
वत्थु सहावे सव्वे नियसहावे परिणमति ।। १२ ।।

व्याख्याः—किसी भी अन्यद्रव्य के द्वारा अपने से अन्य द्रव्य के गुणो का उत्पादन नहीं किया जाता । यह सर्व द्रव्यो का वास्तविक स्वभाव है । सभी द्रव्य स्व स्वभाव में ही परिणमते है । इस कारण परद्रव्य जीव के रागादि उत्पन्न नही करते । क्योकि सभी द्रव्यो के गुणो का स्वभाव से ही उत्पाद होता है । अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणो का उत्पादन कभी नही होता ।

अण्ण निमित्ता परिणमइ दव्वदुग तज्जणय सबंधा ।
आवरण पय पुग्गल विभाव भाव च उव ओगो ।। १३ ।।

सर्व-पट् द्रव्यो मे दो द्रव्य-जीव और पुद्गल अन्य परिणाम रूप परिणमते है और वह परिणमन अन्य निमित्त से होता है । जीव का उपयोग गुण पुद्गल निमित्त से राग ेष विभावतया परिणत होता है और पुद्गल जीव द्वारा गृहीत हुये जीव गुण रोधक भाव को प्राप्त होते हैं यह सम्बन्ध तादात्म्य नही होता; किन्तु निमित्त नैमित्तिक योग से उत्पन्न होने के कारण इनका उत्पत्ति सम्बन्ध है । उत्पत्ति की आदि कहाँ से है ? उसे समय प्राभृत मे इस प्रकार कहा है—

" नव नव निमित्त योगा राग दोपा नवनवा हु ति ।
तेण माइसना सतइ पवुच्चणाइणा ।। "

अर्थः --पुत्र कलत्र घन भोगादि का नया नया सयोग तथा वियोग होने पर नये नये रागद्वेप उत्पन्न होते हैं । क्योकि अनादि काल से वे ही सदा सन्तति के पीछे अर्थात एक के पश्चात सदा एक ही मिलते हैं । यहाँ पर जो एकान्त से रागादि परभावो को निमित्तोद्भव कहते है, वह असत्य है । क्योंकि सिद्धो के भी जो आकाश प्रदेशो मे स्थित है, उनके आकाश प्रदेश स्थित वर्गणाओ के बधने का प्रसङ्ग हो जायगा और अतिव्याप्ति दोप की प्राप्ति हो जाती है सो अलग । और वे कई

व्यक्ति जो एकांत से पुद्‌गल निमित्त के विना रागादि को आत्मोद्‌भव कहते हैं; वह भी असत्य है क्योकि रागद्वेष जीव के स्वभाव मे नही मिलते है। अत पुद्‌गल सग के निमित्त से जीव के ज्ञान दर्शन उपयोग रागद्वेपतया परिणत होते हैं। पुद्‌गल सग का अभाव हो जाने पर तो आत्मा वीतरागत्व को पा जाता है। उसे इस दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं.—

जैसे मृतिका जल के योग से द्रवत्व को और अग्नि के योग से भस्मत्व को प्राप्त हो जाती है। वही मिट्टी कुम्भकार का योग पाकर चक्र दण्ड चीवर के निमित्त से घट के आकार मे परिणत हुई अग्नि से पककर चिरकाल तक जलाधारत्व (जल धारण करना) करती है। उसी प्रकार पुदगलस्कन्ध भी जीव के प्रयोग से कर्मतया परिणत हुये ज्ञानादि गुणो के आवरणत्व रूप से परिणमते हैं। यहाँ यह परिणाम 'जीव और पुदगल' उभयजन्य है। जैसे परमाणु वर्णादि गुण चतुष्क स्वरूप है। (एक परमाणु मे एक गन्ध एक रस और दो स्पर्श होते है।) परमाणु मे शब्दादि धर्म नही है; तथापि वहु परमाणु मिलकर स्कन्ध रूप वनते है; तव शब्दादितया परिणति हो जाते हैं। परमाणुओं मे शब्दत्व तादात्म्य धर्म से नही हैं। किन्तु वह उत्पत्तिरूप धर्म है। इत्यादि स्वत. ऊहय है। अर्थात् स्वयं तर्क करके समझने योग्य है।

वण्णाइ सुह असुहा न राग दोस स्स कारगा हु ति।
तस्स निमित्ते आया कत्ता होऊण परिणमइ ॥ १४ ॥

व्याख्या·—शुभ या अशुभ वर्णादि पुदगल रागद्वेपादि के कारक नही होते, उस पुदगल के निमित्त से आत्मा कर्त्ता वनता हुआ, चेतना को इष्टानिष्ट रूप से व्यापन करता हुआ अर्थात् चेतना को व्यवहृत करता हुआ रागादि का कर्त्ता होता है। अत. वे शुभाशुभ पुदगल के निमित्त से उत्पन्न होने वाले हैं। इसलिये निमित्त का परित्याग होने

पर कर्तृत्व भी नही रहता। एतदर्थ परभाव का ग्रहण व भोग दोनो का त्याग ही श्रेय है। और उस परभाव का त्याग सम्यग्ज्ञान पूर्वक पश्चातापादि प्रतिक्रमण होता है।

कम्म ज पुव्वकय सुहा सुह तो निवत्तए अप्पा।
जो विणिवित्त चेयणो सो पडिक्कमइ सव्व दासाओ ॥१५॥
कम्म जं सुहमसुह जम्मि भावम्मि वज्झइ भविस्स।
ततो अकारगंते पच्चक्खाणी हवइ आया ॥१६॥
ज सुहमसुह मुदिन्न सत मरज्ज तु निदण जुत्त।
जाणइ निवित्तमाणो मो आलोयणग ओ जीवो। १७॥
निच्च पडिक्कमतो पच्चक्खतो तहावलोयतो।
विगलि अ कम्मपवाहो निम्मल चरणो हवइ चेआ ॥१८॥

व्याख्या —पूर्वकृत कर्म के शुभाशुभ विपाक से जो कर्मरूप है, उससे जो आत्मा निवृत्त होता है, वह प्रतिक्रमण करने वाला होता है। पूर्वकृत कर्म भोग स्वामित्व से धीरता से विनिवृत्त हुआ आत्मा सर्व दोषों से हट जाता है। भविष्य मे शुभाशुभ कर्म परित्याग परिणामवान् उस कर्म के अकर्तृत्व रूप परिणत हुआ प्रत्याख्यानी होता है। अर्थात् जिन भावों मे कर्म बंधते है उन भावो से हटकर भविष्य के लिये उनका प्रत्याख्यान कर देता है। जो शुभाशुभ कर्म उदयगत तथा सत्तागत है अकार्य है। उनकी निन्दना युक्त आत्मा निवृत्ति परिणाम होता हुआ उन्हे जानता देखता हुआ है। वह आलोचनागत जीव है। इस प्रकार सदा आलोचना करता हुआ प्रतिक्रमण करता हुआ और प्रत्याख्यानयुक्त आत्मा विगलित कर्म प्रवाह वाला-अर्थात कर्म प्रवाह जिसका नष्ट हो गया है।

ऐसे निर्मल चरित्र वाला होता है। वास्तव मे जो पुद्गल कर्म विपाक से आत्मा को निवृत्त कर लेता है, कर्म विपाक के

कारणभूत परिणाम से अपनी चेतना को हटा लेता है, वह स्वय ही प्रतिक्रमण कर लेता है। जिस कारण से कर्मबन्ध होगा उससे निवृत्ति कर लेने से प्रत्याख्यानी बन जाता है। वही वर्तमान कर्म के कारण-भूत अध्यवसाय को अकार्य रूप जानता हुआ उस अध्यवसाय से निवृत्त होता हुआ शुद्ध अध्यवसाय वाला आलोचक होता है। इस समय प्रथम स्व सत्ता से दूसरे दुर्ध्यानादि को हेयरूप जान कर उन पूर्वकृत दुर्ध्यानादि की निन्दा करता हुआ-हा! दुष्ट कार्य किया! अकार्य किया! वह मेरा कार्य मिथ्या हो जाय! ऐसे परिणामयुक्त के इस प्रकार की आलोचना से दोष से पृथक्कृत आत्म परिणामी के प्रतिक्रमण होता है। उन दोषो को पुन. न करने की, उनको छोड़ देने की प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान है। इस प्रकार नित्य प्रतिक्रमण, नित्य प्रत्याख्यान और नित्य आलोचना करता हुआ पूर्वकृत कार्यों व उत्तर-कृत कार्यों से अत्यन्त निवर्त्तमान कर्म विपाक को आत्मा से अत्यन्त भिन्न पाता हुआ निश्चय से अपने ज्ञान स्वभाव मे ही निरन्तर चलने से चारित्रवान होता है। चारित्र रूप होता हुआ अपने ज्ञानमात्र चेतन से ज्ञान चेतना युक्त हो जाता है। यह हार्द है आशय है। ज्ञान की सद्भासनता प्रवृत्ति से प्रकाशित होता हुआ ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होता है। यहा ज्ञान सवेदना पूर्वक प्रवर्त्तता हुआ आत्मा ज्ञान की शुद्धि को नही रोकता हुआ बन्ध रहिता होता है।

वेद तो कम्मफल अप्पाण कुणइ जो द कम्मफल ।
सो त पुणो वि बधइ वीय दुक्खस्स अट्ठविह ॥१८॥
वेदतो कम्मफल मण्कय जो मुणइ एगत्ते ।
सो तं पुणो वि वधइ वीय दुक्खस्स अट्ठविह ॥१०॥
वेदतो कम्मफल रइ अरइगओ अ हवई जो आया ।
सो त पुणो वि वधइ वीय कम्मस्स अट्ठविह ॥११॥

व्याख्या.—जो वेदता हुआ कर्मफल को आत्मा का करता है, वह दुःख का बीज अष्टप्रकार का कर्म पुनः बांधता है। जो कर्मफल को वेदता हुआ, 'यह मेरा किया हुआ है' 'मैं करता हूँ' इस प्रकार स्वसामर्थ्य को मानता हुआ, परभाव के अकर्तृत्व को छुपाता हुआ, भव भ्रमण बीजभूत अष्टप्रकार कर्म पुनः बांधता है। पूर्ववद्ध कर्म के विपाक को शुभ या अशुभ रूप से वेदता हुआ रति अरति परिणाम को एकत्वरूप से करता हुआ पुनः अष्टविध कर्मदलिकों से बंध जाता है। ज्ञानावरण व दर्शनावरण के क्षयोपशम से समुत्थ-प्रकट हुई चेतना-ज्ञायकता दो प्रकार की होती है- १. कर्म चेतना, २ कर्मफल चेतना। उन मे ज्ञान से अन्य 'यह मैं करता हूँ' यह कर्म चेतना है। चेतना को अज्ञान वश अन्य 'यह मैं वेदता हूँ' इस प्रकार की चेतना, कर्मफल चेतना है। वह सारी ही संसार बीज है। और संसार बीज अष्टविध कर्म स्वरूप है अतः मोक्षार्थी पुरुष को अज्ञान चेतना नष्ट करने के लिये सकल कर्म सन्यास भावना और सकल कर्मफल सन्यास भावना को हेयत्वरूप विचार करके, 'स्वभावभूत भगवती ज्ञान चेतना ही है।' अतएव स्वरूप रूपा एक मात्र ज्ञान चेतना को सदा जागृत रखना चाहिये। वहाँ इस प्रकार भावना करे—प्रथम सकल अशुद्ध कर्तृत्व संन्यास भावना का विमर्श—जो मैंने किया, मैंने कराया, व करते हुये अन्य का अनुमोदन मन, वचन और काया से किया', उसका मुझे मिथ्या दुष्कृत हो। यह त्रिविध त्रिविध से गतकाल की परभाव कर्तृता निवृत्त हुई।। इसी प्रकार उन पचास विकल्पों से परभाव कर्तृत्व की निन्दा करनी चाहिये। सर्व परभावों के कर्तृत्व भोक्तृत्व रमणत्वादि गत अशुद्ध विकल्पों का प्रतिक्रमण करके अर्थात् उनसे हटकर। फिर वर्तमान काल की अशुद्धता को देखता हुआ, न करता हूँ, न कराता हूँ, न करते हुये का अनुमोदन करता हूँ मन से, वचन से और काया से, इस प्रकार त्रिविध त्रिविध का प्रथम भंग से, पुन

एकोनपंचाशत् भग प्रकार से सदोष का निषेध करता हुआ, आलोचना रूप प्रायश्चित करता हुआ वर्तमान स्वशक्ति के विशोधन से निर्मल स्वात्म स्वभाव वाला विशुद्ध आत्मा स्व आत्मा मे रमण करने वाला वनता है। फिर आगामि काल की विशुद्धि के लिये—'न करूँगा, न कराऊँगा और न करने का अनुमोदन करूँगा, मन वचन और काया से'। इस प्रकार भाविकाल मे परभाव करने का प्रत्याख्यान किया हुआ समस्त कर्म सम्मोह को हटा देने वाला आत्मा स्व समवाय सवन्ध से सम्वद्ध आत्मा मे स्वकार्य भाव में सदा आत्मा से वर्तता है। इस प्रकार त्रैकालिक परभाव स्पर्श को दूर करके निर्विकार अपने सहज चैतन्य भाव का ही अवलम्वन करता है। और पर की अशुद्धता का विभाग करके सासर्गिक अशुद्धता को छोडने वाला होता है। उसके लिये कर्मफल सन्यास भावना करता है :— 'कर्मविषवृक्ष के फल नष्ट हो जायँ।' 'मैं उनका कर्त्ता नही हूँ' 'न भोक्ता हूँ', 'मैं स्वरूप का कर्त्ता भोक्ता हू।' अत मैंने यह नही किये, मैं इनके ससर्ग भाव का धारक नही हूँ। न मैं इन पुद्गल रूपवति श्रुत अवधि मन· पर्याय केवल ज्ञानावरणीय फल को भोगता हूँ। पुद्गल स्कन्ध मेरा स्वरूप नही, मै तो स्व के अस्ति स्वभाव का, व अपने ज्ञानगुण का 'जो स्व पर का परिच्छेदक ज्ञायक है' भोक्ता हूँ।

मैं चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शनावरणीय कर्म को नहीं भोगता। समस्त स्वद्रव्य और परद्रव्यों के सामान्य अववोधक दर्शन गुण का भोक्ता हूँ। न मैं सामान्य विशेष उपयोग रोधक निद्रा पंचक के फल को भोगता हूँ क्यों कि वह मेरा अभोग्य है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि आवरणीय कर्म नव प्रकार का है, निद्रा पचक को भिन्न किस कारण कहते हो? उसे उत्तर देते हैं कि—ज्ञानावरण ५ और दर्शनावरण ४ ऐसे नव आवारक प्रकृतियाँ हैं, और ये ज्ञान दर्शन को आवारक हैं। निद्रा पचक मे तो इनके क्षयोपशम

से समुत्थ उपयोग रोधकत्व ही है। आवारकत्व नही, अत भिन्नता जाननी चाहिये। मैं साता असाता वेदनीय कर्मफल को नही भोगता। मैं तो स्वात्म द्रव्य व्यापक, अभेद रूप आत्मानन्द का भोक्ता हूं। न मैं मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय क का फल भोगता हूँ। इन प्रकृतियो का फल यथार्थ निर्द्धारात्मक शक्ति को रोकना और अतिचारादि हैं। मैं तो स्वय को स्वरूप से, पर को पररूप से, यथार्थतया निर्द्धारणादि स्वभावो का भोक्ता हूँ। न मैं अनन्तानुबन्धि क्रोधमान माया लोभ रूप मोहनीय की प्रकृतियो का का फल भोगता हू; क्यों कि ये शुद्ध क्षमा मार्दव आर्जव मुक्ति आदि की ध्वसक हैं, तथा शुद्धात्मधर्म साधकता के साधक व सिद्धो पर क्रोध ईर्ष्या वचना और परभाव इच्छा परिणाम की कारण-भूत हैं। न मैं अप्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ के कर्मफल भोगता हू; क्यों कि ये सन्मार्ग साधको को द्वेष ईर्ष्या कपट इन्द्रिय विषय भोगाशसा के हेतु हैं। मेरे शुद्ध समता रूप सामायिकात्मक स्वरूप के रोधक होने से न मैं प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधमान माया लोभ रूप कर्म फल का भोक्ता नही हू। क्षयोपशमीभूत चारित्र अविभाग प्रवृत्ति स्वरूप रमण मात्र के परणामो के कालुष्य के हेतु होने से न मैं सज्वलन क्रोधमान माया लोभ के कर्मफल को भोगता हू। परभाव भोक्तृत्व व स्वरूप चलनत्वादि परिणामो के कारण होने से मैं हास्य रति अरति शोकमय जुगुप्सा रूप कर्मफल को नही भोगता हू।

निर्विकार आत्म चेतना के विकार के हेतु होने से मैं स्त्रीवेद पुरुषवेद नपु सकवेद रूप कर्मफल को नही भोगता हू। मैं तो निष्कषाय निर्विकार निर्मोह ह। निर्मलात्म शक्ति रूप धर्म का भोक्ता हू।

न मैं नरक, तिर्यंग् मनुष्य देवायु रूप कर्मफल को भोगता हूं, मैं तो अविनाशी, अक्षय अवगाह अमरत्व धर्मों का भोक्ता हू।

न मैं नरक तिर्यग् मनुष्य देव गति रूप कर्मफल भोगता हूं, मैं तो शुद्ध अचल एक स्वात्म स्वरूप का भोक्ता हू ।

न मैं एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पचेन्द्रिय जाति रूप कर्मफल को भोगता हू ये भवभ्रमणावस्था के हेतु है, मैं तो स्वरूपगत स्वसत्तावस्थान रूप हू ।

न मै औदारिक वैक्रियक आहारक तैजस कार्मण, इन पाँच शरीरो का और औदारिक वैक्रियक आहारक गोपागो का फल भोगता हूँ । मैं तो शरीर से असग अनाहारक स्वाधार गुणो का भोक्ता हू ।

न मैं वन्धन पचक संघातन पचक कर्मफल को भोगता हूँ, इनका कार्य तो आहारादि पर्याप्तिगृहीत पुद्गलों का आकर्षण, और उन्हे शरीरादि रूप मे बाँधना है । वह मेरा कार्य नही । मैं तो प्राग्-भावीभूत स्वज्ञानादि गुणो का ही प्रवर्त्तक हू ।

न मैं छह सस्थान, और छह सहनन रूप कर्मफल भोगता हू । क्यो कि ये पुद्गलरूप शरीर के कर्मविपाक की शुभाशुभता के हेतु हैं । मैं तो पर-पुद्गल की शुभाशुभता से विप्रमुक्त अनन्त चिदानन्द अशरीर भाव का भोक्ता हू ।

न मैं पाँच वर्ण दो गन्ध पाँच रस और आठ स्पर्श रूप कर्मफल को भोगता हू क्योकि ये तो पुद्गलो के गुण हैं शरीराश्रित हैं । मेरे अमूर्त्त गुण के रोधक है । मै तो अवर्ण अगन्ध अरस अस्पर्श्य अमूर्त्त स्वभाव हू ।

न मैं नरक तिर्यक् मनुष्य देवानुपूर्वी रूप कर्मफल को भोगता हूं, और न शुभाशुभ विहायोगति रूप कर्मफल को भोगता हू । मैं तो अकम्प, अक्रिय अचल स्वरूप का भोक्ता हू ।

मैं पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, निर्माण

व तीर्थंकर रूप कर्मफल को नही भोगता हू। इनमे पराघात का उदय परजीव की सामर्थ्य का उच्छेदक है। मैं किसी का भी उच्छेदक नही।[१]

मैं त्रस दशक और स्थावर दशक रूप कर्मफल को नही भोगता हूँ। ये तो आत्मा को एक अवस्था से दूसरी अवस्था प्राप्त कराते हैं। मैं तो सदा अवस्थित हू।

मैं उच्च नीच गोत्र रूप कर्मफल को नही भोगता हूं। मैं तो सकल स्वरूप से व्यक्त होने से सभी जीवाजीवादि द्रव्यों की त्रैकालिक परिणति का ज्ञायक होने से व मुख्यद्रव्य होने से समयसार रूप हूँ।

मै दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय रूप कर्मफल को नही भोगता हूँ। मैं तो परमदानलाभ भोगोपभोग वीर्य शक्तिमय हूँ।

इस प्रकार समस्त कर्मफल का सन्यास करके 'शुद्धात्मस्वभाव रमणानन्दमय हू', ऐसा जानना चाहिये। ऐसी भावना करनी योग्य है।

(वसन्ततिलका वृत्तम्)

नि शेषकर्म रहित परम प्रकृष्ट,
शुद्धात्मतत्त्वविशदत्व विलास शीलः।
ईदृक् स्वरूप परिणामिक भावयुक्तो
भोक्ता कथ भवति ? कर्मफलस्य चेता ॥४॥

अर्थः—सम्पूर्ण कर्म रहित, परम, प्रकृष्ट, शुद्ध आत्म तत्त्व की उज्ज्वलता मे विलास करने वाला इस प्रकार के स्वरूप पारिणामिक भावयुक्त आत्मा कर्मफल का भोक्ता कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

पुन. विपर्यास चेतना के हेतुभूत पाँच मिथ्यात्व—(आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, अभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोग को,

---

[१] आगे की प्रकृतियों का वर्णन नहीं है। होना चाहिये।

परमणास्वादरूप १२ प्रकार के असयम को, चेतना की कलुपता रूप पच्चीस कषायो के परिणाम को, प्रकटवीर्य चलनरूप मनोवाक्काय के १५ भेद रूप योगो को, जो बन्ध के हेतु है उनका मैं कर्त्ता नही हूँ। जो किया उसका मिथ्या दुष्कृत हो। वर्त्तमान मे करता नही हू- मनोवाक् काय व करण करावण अनुमोदन रूप से नही करता हूँ। अनागत करना नही, अत प्रत्याख्यान करता हू। इस प्रकार निर्वत्तित आश्रव परिणाम वाला शुद्ध सवरमय 'मैं' हूँ। स्वरूपानन्द से तृप्त 'मैं' कर्म विप वृक्षो के फल नही भोगता हूँ। जो अनादि काल से भोगे हैं। उस पर भोक्तृत्व भाव को अत्यन्त तत्त्वभावना के द्वारा विफल करके तत्त्वरसिक धीर-बुद्धिमान् जन ही छोड़ते हैं; अन्य नही। अन स्वरूप रुचि, स्वरूपभासन, स्वरूप रमण की स्वधर्म में एकत्व रूप से ही शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिये। अव पुद्गल व अन्य अजीव द्रव्यो से पृथक्त्व का विचार करते है :--

धम्माधम्मागासा पुग्गल दव्वाणि ते सपरिणामा
संजोग जाय भावा दुविहा वि न हुंति जीवत्त ॥२२॥

व्याख्या:-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय मैं नही हू। और मुझसे अन्य जीव जो मुझसे भिन्न हैं, उनके परिणाम भी चेतनलक्षण है। पर वे भिन्न है। अन्य द्रव्य के सयोग से उत्पन्न जो राग द्वेप और कर्म नोकर्म भाव हैं उन रूप भी मैं नही हूं। बाधक साधक दोनों ही विभाव, मेरे सत् स्वरूप नही हैं। इस प्रकार सर्व परद्रव्यों के व्यतिरेक से व दर्शनादि जीव स्वभाव का अन्वय करने से व्याप्ति अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोपो को छोडता हुआ, अनादि विभ्रम के मूल परभ्रमय को उद्वमन करके स्वय ही दर्शन ज्ञान चारित्र स्थितिमय स्व समय को पाकर मोक्षमार्ग को आत्मा मे ही परिणत करके सम्पूर्ण विज्ञानघन भाव को प्राप्त हुआ,

हीन उपादान शून्य साक्षात् समय सारभूत परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञान अवस्थित देखना चाहिये।

विमुक्त पर द्रव्यस्य शुद्धभावान्वितस्य च ।
कथ माहारकत्वं स्या द्देहभिन्नस्य चात्मन ।।५।।

अर्थ—समस्त परद्रव्यो से विमुक्त और शुद्धभाव सहित देहभिन्न आत्मा का आहारकत्व कैसे हो सकता है ?

जस्सामुत्तो आया न हु आहारगो हवइ कहवि ।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलम ओ अ ।।२३।।

व्याख्या—जिसको 'आत्मा अमूर्त्त है' ऐसा निश्चय है, वह आहारक किसी भी प्रकार नही होता है। आहार निश्चित रूप से मूर्त्त और पुद्‌गलमय है। वह न आत्मा है, न आत्मा का कार्य रूप है, और क्योकि शुद्ध आत्मा परद्रव्य को किञ्चिन्मात्र भी न ग्रहण करता है, न छोडता है। वह पुद्‌गल, प्रायोगिक गुण सामर्थ्य से अथवा विस्रसिक गुण सामर्थ्य वाला है आत्मा तो ज्ञायक ही है। उसके द्वारा ग्रहण और छोडना अशक्य है। और ज्ञान तथा अमूर्त्त आत्म द्रव्य के मूर्त्त पुद्‌गल स्कन्ध रूप आहारकत्व का सम्भव नही है। अत ज्ञानमय आत्मा के आहारकत्व नही होता, न शरीरादित्व होता है। अत मैं शरीर और पुद्‌गलाहारी दोनो ही नही हू। इस प्रकार ज्ञानादि शुद्ध आत्मा के देह ही नही होता है। अतः देहादि की पवित्रता मोक्ष का कारण नही है। यही बात निम्न पद्य मे है —

एव ज्ञानादि शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
अतो देहादि पावित्र्य नैव मोक्षस्य कारणम् ।। ६ ।।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेह त चेव झा ह निच्च ।
तत्थेव विहर णिच्च मा विहरन्तु अण्ण दव्वेसु ।।२४।।

व्याख्या – अनादि काल से परद्रव्य मे राग द्वेषादि नित्य ही स्व प्रज्ञा दोष से रहते है। उन्हे स्वप्रज्ञा गुण से ही परद्रव्य से

उसे दूर हटाकर दर्शन ज्ञान चारित्र मे सदैव निश्चल रूप से आत्मा को स्थापित करो। तथा अन्य समस्त चिन्ताओ का निरोध करके एकाग्र होकर दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षपद का ही ध्यान करो। तथा सकल कर्मफल चेतना सन्यास से शुद्धज्ञान चेतनामय होकर दर्शनज्ञान चारित्रमय मोक्षपद को ही जाग्रत करो। और आत्म द्रव्य स्वभाववश से प्रतिक्षण ज्ञान दर्शन चारित्र मे ही विचरो। तथा एक ज्ञान का अचल अवलम्वन लेता हुआ, ज्ञेयरूप से उपाधितया सर्व ओर दौड़ते हुये सभी परद्रव्यो मे भी मत विहार करो। अव द्रव्यलिङ्ग-रजोहरण मुखवस्त्रिका विषयक विचार करते हैं; द्रव्यलिङ्ग मोक्ष का उपादान कारण नही, निमित्त कारण भी नही; किन्तु अपेक्षा कारण रूपत्व से सापेक्ष है। और जो रजोहरणादि लिंग का अपलाप करते हैं नही होते ऐसा कहते हैं, वे भी नग्नत्वादि लिंग कहते ही है; अतः अपेक्षा कारण लिंग जानना चाहिये। कितनेक जीव भरत, मरुदेवी आदि लिंग के विना भी स्वात्म साधक हो गये हैं। इस विपय मे कहते हैं :—

ववहारिओ पुण णओ दो वि लिंगाणि भणइ मुक्खपहो।
निच्छय णओ ण इच्छइ मुक्खपहे सव्व लिंगाणि ॥ २५ ॥

व्याख्या —पुन व्यावहारिक नय वाले, श्रमण श्रमणोपासक भेद से दो प्रकार के द्रव्यलिङ्ग को मोक्ष मार्ग कहते हैं। और निश्चयनय तो मोक्षपद मे सभी लिङ्गो को नही चाहता। वह तो 'विकल्पातिक्रान्त दृष्टि ज्ञप्ति प्रवृत्ति मात्र एक शुद्ध ज्ञान ही मुक्तिपथ है' ऐसा मानता है। 'उसी ज्ञान का स्वय शुद्धद्रव्यानुभवात्मकत्व होने से वही परमार्थ है। वही परमार्थ को परमार्थ बुद्धि से चेताता है-सचेत करता है। वही सर्वागम-सारभूत शुद्धात्म स्वरूप को जागृत करता है। सभी विकल्प जाने दो क्यों कि कारण से कार्य साधन करने वाले के अशुद्ध निमित्त से शुद्ध कार्य की साधना नही होती। शुद्ध निमित्त से

होती है। वास्तव मे जो परमात्मसारभूत भगवान् परमात्मा के विश्वप्रकाशत्व से समस्त सिद्धान्तो का प्रतिपादन होने से स्वयं शब्द ब्रह्मायमाण इस शास्त्र को पढकर विश्वप्रकाशनसमर्थ, परमार्थभूत, चित्प्रकाश रूप आत्मा का निश्चय करता हुआ, अर्थ और तत्त्व दोनों से उसको पृथक् रूप से जानकर उसी के अर्थभूत भगवान् मे 'जो एक मात्र पूर्ण विज्ञान-न परम ब्रह्म हैं', सर्वप्रकार से स्थित होगा, वह तत्क्षण साक्षात् विजृम्भमाण चिद्एकरसनिर्भरस्वभाव मे सुस्थित, निराकुल आत्मरूपतया परमानन्द शब्द वाच्य, उत्तम अद्यतन अनाकुलत्व लक्षण सुख को स्वय ही प्राप्त करेगा।

सर्वं सिद्धान्तसारं च शुद्धात्मत्वावलम्बनम्।
अखण्डं निर्मलं रूपं साध्यसिद्धेश्च कारणम् ॥ ८ ॥

अर्थ.—सर्व सिद्धान्तो का सार यह है कि अखण्ड निर्मल रूप वाले शुद्ध आत्मत्व का आलम्बन साध्य सिद्धि का कारण है।

इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्त्व का आलम्बन ही मोक्ष मार्ग है। इस कथनरूप यह मोक्ष मार्ग कहा गया।

॥ इति श्रीमद्देवचन्द्रगणि रचितेऽध्यात्म प्रबोधेऽपरनामदेशनासारे
मोक्षप्रकाशको नाम नवमोऽधिकार. ॥

अथ स्याद्वाद ज्ञाननिरूपणो नाम दशमोऽधिकारः

अब शुद्ध आत्मा का आलम्बन स्याद्वाद ज्ञान से ही होता है; अतः वही कहा जाता है :—

अर्हन् सर्वज्ञ भगवान् के शासन का 'स्यादवाद', समस्त वस्तु तत्व का अस्खलित एकमात्र साधक है। और वह 'सर्ववस्तु अनेकान्तात्मक हैं' ऐसा कहता है। क्योकि सभी वस्तुओं का अनेकान्त स्वभाव है यहाँ तो आत्म द्रव्य-वस्तु मे ज्ञानमात्रतया अनुशासित किये जाने पर अन्य पर परिकोप नही, क्योकि ज्ञानमात्र आत्मवस्तु का स्वयमेव अनेकान्तत्व है। उसमे स्याद्वाद मे जो है वह 'वह नहीं' भी है। जो एक है, वही अनेक है। जो सत् है, वही असत् है। जो नित्य है, वही अनित्य भी है। जो अनित्य है, वही नित्य भी है। जो भिन्न है, वही अभिन्न भी है। जो होना है वह न होना भी है। जो वक्तव्य है, वही अवक्तव्य भी है। इस प्रकार वस्तु के वस्तुत्व की निष्पादक परस्पर विरुद्ध दो शक्तियो का प्रकाशन अनेकान्त है। वह स्व आत्मा का ज्ञानमात्र है। तथा शास्त्र मे कहा जाता रहा है। अतः चमकते हुये ज्ञान स्वरूप से तत्त्व से बाहिर अनन्त ज्ञेयतापन्न स्वरूप से अतिरिक्त पर रूप से अतत्त्व होने से सह क्रम रूप प्रवृत्त अनन्त चिदंश समुदय रूप अविभाग द्रव्य से एकत्व होने मे अविभाग एक द्रव्य व्याप्त सह क्रम प्रवृत्त अनत चिदंश रूप पर्यायों से अनेकत्व है। क्यों कि स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव मे होने की शक्ति का स्वभावत्व मे सत्त्व है, और पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप होने की शक्ति का

स्वमात्व मे असत्व है। अनादिनिधन अविभागैकवृत्तिमान् रूप से नियत्व होने से, क्रमप्रवृत, क्रमप्रवृत, एकसमयावच्छिन्न, अनेकसामर्थ्य-वृत्ति अशपरिणमनत्व रूप से अनित्यत्व होने से, समस्तपर्यायो में अवस्थान रूप से अभिन्नत्व होने से, उन्ही पर्यायो से कार्यकारण के भेदरूप से भिन्नत्व होने से, प्रतिसमय कार्यकारणान्तरत्व से परिणम-मान स्वभाव होने रूप कारण से उसी परिणममान आत्मा को भी उसी में अवस्थान होने से अपरिच्युतवृत्ति के रूप न हो जाने के हेतु से, शब्द गोचरत्व धर्मत्व द्वारा कहने योग्य होने से, शब्द द्वारा अगम्य, और केवल ज्ञानगम्य स्वभावत्व के कारण न कहने योग्य होने के कारण, वह आत्मतत्त्व एक अनेकादि अनन्त धर्मपरिणामरूप ही प्रवर्त्तता है। यहाँ कोई शका करे कि यदि वस्तु स्वय ही अनेकान्त स्वभाव से परिणमती है तो अर्हन् भगवान् उसका साधनत्वरूप से अनुशासन क्यो करते है ? अर्थात् कहते हैं ? उसका उत्तर इस प्रकार है — यद्यपि वस्तु अनेकान्ततया परिणमती है; तदापि अज्ञानिजनो द्वारा नही जानी जा सकती; उन्हे जतलाने को ऐसा कहते हैं। वास्तव में अनेकान्त उपदेश के बिना मतज्ञान की सिद्धि नही होती। पुनः शका होती है कि अनेकान्तमय आत्मा को 'वह ज्ञानमात्र है' ऐसा व्यपदेश क्यो किया गया ? उत्तर- लक्षण प्रसिद्धि से लक्ष्य प्रसिद्धि के लिये ज्ञानमात्रतया व्यपदेश[1] है। क्योकि आत्मा का असाधारण गुण होने से ज्ञान ही आत्मा का लक्षण है। अतः ज्ञान लक्षण की प्रसिद्धि से आत्मरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि है।

शका—अमूर्त्तज्ञान की प्रत्यक्ष से सिद्धि कैसे होती है ? उत्तर—ज्ञान स्वसंवेदनत्व से सिद्ध है, तथा अहं प्रत्ययगम्य होने से प्रकाशरूप से सिद्ध है, क्योकि वह ज्ञान आत्मद्रव्य से अभिन्न है।

---

[1] सूचित

अत. ज्ञानमात्र में अचलित रखी गई दृष्टि से क्रम अक्रम रूप से प्रवृत्त उस आत्मा के अविनाभूत अनन्त धर्म हो गये। जो कर्म जितना लक्ष्य है, वह उतना समस्त ही वास्तव मे—निश्चय से आत्मा है। इसलिये यहाँ आत्मा का ज्ञानमात्रतया व्यपदेश किया है।

शका—भगवान् ने अनन्त धर्ममय आत्मा का ज्ञानमात्रत्व कैसे कहा है ? उत्तर—परस्पर व्यतिरिक्त अनन्त धर्म समुदाय परिणामो के पर्यायमात्र भाव रूप स्वय होने से भगवान् ने ज्ञानमात्रत्व कहा है। अतएव इस आत्मा के ज्ञानदर्शनमात्र भाव में अन्त. पातिनी रहने वाली अनन्त शक्तियाँ प्रवृत्त होती हैं—प्रवर्त्तती हैं। और यहाँ 'ज्ञान दर्शन गुणमय ही आत्मा है' इस व्याख्या मे स्थिरतादि अनन्त भाव उस आत्मा की शक्ति रूप से ही विशेप प्रकार कहे गये हैं। वे शक्तियाँ अनन्त होने पर भी उनमें से कुछ, अन्य ग्रन्थों से प्राप्त हुई लिखी जाती हैं :—

१—सामान्य विशेष स्वभाव गुणपर्यायपिण्डत्व की आधारस्वरूप द्रव्यत्व शक्ति।

२—प्रति पर्याय मे उत्पाद व्यय रूप मे परिणमन होने से अनेक अवस्था होने पर भी उसी द्रव्यत्व अवस्थानरूप ऊर्द्ध प्रचय शक्ति।

३—स्वजातिभिन्न द्रव्य मे भी तज्जातीयत्व स्थापन करने वाली, समयान्तर मे अनेक पर्याय होने पर भी उसी द्रव्य को स्थापनपरक तिर्यग् प्रचय शक्ति।

४—अजड़ होने से एक मात्र चेतनता शक्ति।

५—साकार उपयोगमयी ज्ञान शक्ति।

६—अनाकार उपयोगमयी दर्शन शक्ति।

७—अनाकुल समाधि लक्षण सुख शक्ति।

८—स्व स्व कार्य निवर्त्तन सामर्थ्यरूप वीर्य शक्ति।

९—अखण्डित प्रताप, स्वातन्त्र्य शालित्व लक्षणा प्रभुत्व शक्ति।

१०—सर्व स्वभाव व्यापक एकरूप विभुत्व शक्ति।

११—विश्व का समस्त सामान्य भावावबोध परिणाम वाली सर्वदर्शित्व शक्ति।

१२—लोकालोक के विशेष भावावबोधिकात्मका ज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति।

१३—ज्ञान रूप आत्म प्रदेश प्रकाशमान लोकाकार मात्र एक उपयोग लक्षण स्वच्छत्व शक्ति।

१४—स्वय प्रकाशमान विशद स्व सवेदनमयी प्रकाश शक्ति।

१५—अन्य द्वारा अक्रियमाण सर्वज्ञेय को एकाकार परिणमन करने पर भी उसी प्रकार उपयोग प्रवर्त्तनरूप कार्य कारण शक्ति।

१६—पर और आत्म निमित्तक ज्ञेय ज्ञान आकार ग्रहण ग्राहण स्वभाव रूप से परिणमन करने वाली पारिणामिकत्व शक्ति।

१७—अन्यून अतिरिक्त स्वरूप रूपा नियतत्व शक्ति।

१८—षट् स्थान पतित वृद्धि हानि परिणत स्वरूपनिष्ठत्व की कारण विशिष्टगुणात्मिका अगुरुलघुत्व शक्ति।

१९—आत्म द्रव्य की हेतुभूत चैतन्य मात्र भाव धारण लक्षणा जीवत्व शक्ति।

२०—क्षेत्र काल मे अनवच्छिन्न चिद् विलासात्मिका सकुचित विकासना शक्ति।

× × × ×

(अपूर्ण प्रति मे इतनी ही शक्तियाँ लिखी होने से २-ही प्राप्त होती हैं। और भी हैं, क्योंकि चेतन की अनन्त शक्तियाँ हैं, ऐसा सर्वज्ञ देव का कथन है। ग्रन्थान्तरों से अन्य शक्तियाँ जानी जा सकती हैं।)

परिशिष्ट (१)

श्रीमद् देवचन्द्र जी के नयचक्रसार में आत्मा की शक्तियो का विवरण इस प्रकार है .—

भिन्न-भिन्न पर्यायप्रवर्त्तनस्वकार्यकरणसहकारभूताः पर्यायानुगत परिणामविशेषस्वभावा तेच के, १–परिणामिकता, २–कर्त्तृता, ३–ज्ञायकता, ४–ग्राहकता, ५–भोक्तृता, ६–रक्षणता, ७–व्याप्या व्यापकता, ८–आराधेयता, ९–जन्य जनकता, १०–अगुरुलघुता, ११–विभूतकारणता, १२–कारकता, १३–प्रभुता, १४–भावुकता, १५–अभावुकता, १६–स्वकार्यता, १७–सप्रदेशता, १८–गतिस्वभावता, १९–स्थिति स्वभावता, २०–अवगाहक स्वभावता, २१–अखण्डता, २२–अचलता, २३–असगता, २४–अक्रियता, २५–सक्रियता इत्यादि स्वीयोपकरण प्रवृत्तिनैमित्तिका. "उक्त च सम्मतो" आरोशेपचारेण यद्यदपेक्षते तन्न वस्तुधर्म. उपाधिताभवनात् न चोपाधिर्वस्तु सत्ता इति ॥

अर्थ—हवे विशेष स्वभाव कहे छे। भिन्न भिन्न जे पर्याय छे तेनु कार्य कारण पणे जे अवर्त्तन तेना सहकारभूत जे पर्यायानुगत परिणामी एवा जे स्वभाव ते विशेष स्वभाव कहिये। तेनां अनेक भेद छे। ते हरिभद्रसूरि कृत शास्त्रवार्त्ता समुच्चय ग्रंथ मा कह्या छे ते कहे छे।

१–सर्व द्रव्यने पोताना गुण समय समय मां कार्य करवे प्रवर्ते ने भिन्न भिन्न परिणामे परिणमे ते सर्व पोताना गुण तेने कारणिक छे ते परिणामिकपणो कहिये' २–तत्र कर्त्तृत्व जीवस्य नान्येषां तिहा

आत्मा कर्त्ता छे एटले कर्त्तापणो जीव द्रव्य ने विषे छे। "अप्पा कत्ता विकत्ता य" इति उत्तराध्ययन वचनात्, ३-ज्ञायकता जाणपणानी शक्ति जीव ने विषे छे। ज्ञान लक्षण जीव छे। ते माटे गिन्हइ कायिएणं इति आवश्यक नियुक्ति वचनात्, ४-ग्राहक शक्ति पण जीव ने छे। गृह्णातीति क्रिया नो कर्त्ता जीव छे। ५-भोक्ता शक्ति पण जीव मा छे। "जो कुणइ सो भुजइ य कर्त्ता स एव भोक्ता" इति वचनात्। १-रक्षणता, २-व्यापकता, ३-आधाराधेयता, ४-जन्य जनकता तत्त्वार्थ वृत्ति मध्ये छे तथा अगुरुलघुता, विभुता, करणता, कार्यता, कारकता, ए शक्ति नी व्याख्या श्री विशेषावश्यके छे। भावुकता तथा अभावुकता शक्ति ते श्री हरिभद्र सूरि कृत भावुक नामे प्रकरण मध्ये कहि छे।

एम केटलीक शक्ति जैन ना तर्क ग्रन्थो जे अनेकान्त जय पताका सम्मति प्रमुख मा छे तथा ऊर्ध्व प्रचय शक्ति अने तिर्यक् प्रचय शक्ति, ओघशक्ति, समुचित शक्ति, ए सर्व सम्मति ग्रथ ने विषे छे। तथा जे द्विगुणी आत्मा माने ते सर्वधर्म शक्ति रूपज माने छे तेणे दानादिकलब्धि अव्याबाधसुख प्रमुख शक्ति मानी छे। इहा व्याख्यान्तरे जे गुणकरण छे तेने कर्त्तादिक पणो ते सामर्थ्य छे, जाणवो देखवो ते कार्य छे, केटलीक शक्ति जीवमाज छे अने केटलीक पचास्तिकाय मध्ये छे।

(श्री जिनदत्त सूरि ग्रन्थ माला से प्रकाशित जीव विचारादि प्रकरण संग्रह पृ. १२४-२५ से उद्धृत)

परिशिष्ट (२)

अमृत चन्द्र सूरि कृत समयसार टीका के स्याद्वादाद्धिकार में आत्मा के ज्ञान मात्र एक भाव के भीतर पडने वाली अनन्त शक्तियो में से उदित होने वाली कुछ शक्तियो का वर्णन है जिनकी सूची इस प्रकार है :—

१—जीवत्व नामा शक्ति २—चिति शक्ति ३—दृष्टि शक्ति ४ ज्ञान शक्ति ५—सुख शक्ति ६—वीर्य शक्ति ७—प्रभुत्व शक्ति ८—विभुत्व शक्ति ९—सर्व दर्शित्व शक्ति १०—सर्वज्ञत्व ११—स्वच्छत्व शक्ति १२—प्रकाश शक्ति १३—विकासत्व शक्ति १४ अकार्य कारण शक्ति १५—परिणम्य-परिणामकत्व शक्ति १६—त्यागोपदान शून्यत्व शक्ति १७—अगुरु लघुत्व शक्ति १८—उत्पाद व्यय ध्रुवत्व शक्ति १९—परिणाम शक्ति २०—अमूर्त्तत्व शक्ति २१ अकर्तृत्व शक्ति २२—अभोक्तृत्व शक्ति २३—निष्क्रियत्व शक्ति २४—नियत प्रदेशत्व शक्ति । २५—स्वधर्म शक्ति २६—साधारण—असाधारण—साधारणासाधारण-धर्मत्व शक्ति २७—अनन्त धर्मत्व शक्ति २८—विरुद्ध धर्मत्व शक्ति २९—तत्व शक्ति ३०—अतत्त्व शक्ति ३१—एकत्व शक्ति ३२—अनेकत्व शक्ति ३३—भाव शक्ति ३४—अभाव शक्ति ३५—भावाभाव शक्ति ३६—अभावभाव शक्ति ३७—भावभाव शक्ति ३८—अभावाभाव शक्ति ३९—भाव शक्ति ४०—क्रिया शक्ति ४१—कर्म शक्ति ४२—कर्तृत्व शक्ति ४३—करण शक्ति ४४—सम्प्रदान शक्ति ४५—अपादान शक्ति ४६—अधिकरण शक्ति ४७—सम्बन्ध शक्ति ।

इन शक्तियों का विशेष विवेचन श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रथमाला से प्रकाशित 'समयसार' के पृ ३३२ से ३३५ तक द्रष्टव्य है ।